Chapter-1

प्रथम अध्याय

विषय - प्रवेश

प्रास्ताविक

उपन्यास की गणना कथा-साहित्य के अंतर्गत होती है। परन्तु पुराने कथा-साहित्य से वह कई मुद्दों में भिन्न है। वस्तुतः उपन्यास इस नये युग की देन है, जो औद्योगिक क्रान्ति एवं वैज्ञानिक खोजों के कारण आविर्भूत हुआ है। सर्वप्रथम उपन्यास का उदय युरोप में हुआ और अंग्रेजी के माध्यम से यह साहित्य प्रकार हमारे यहाँ 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रसारित- प्रचारित हुआ। अंग्रेजी शिक्षा और साहित्य का प्रचार, नवजागरण की प्रवृत्ति के कारण सामाजिक सरोकारों से सम्बद्ध अनेक समस्याओं का उठना, हिन्दी गद्य का विकास, पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन, मुद्रणकला का विकास, अंग्रेजी शिक्षा से उद्भूत नौकरी-पेशा मध्य वर्ग का उदय जैसे अनेक कारणों से हिन्दी उपन्यास के विकास को गति मिली।

राजाराम मोहनराय, केशवचंद्र सेन, दयानंद सरस्वती, ज्योतिबा फूले, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, महादेव गोविंद रांगडे, दुर्गाशंकर मेहता, नर्मद जैसे महानुभावों के कारण भारतीय समाज एक नई करवट ले रहा था। पुरानी सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ आवाज उठ रही थी और नवसुधारवाद का वातावरण बन रहा था। नारी-शिक्षा, विधवा-विवाह, अनमेल विवाह का विरोध, शिशु-विवाह का विरोध, वृद्ध-विवाह का विरोध, दहेज-प्रथा का विरोध, नारी के सामाजिक-धार्मिक-पारिवारिक अधिकारों से सम्बद्ध नयी चेतना का जागरण प्रभृति आयाम भारतीय-सामाजिक जीवन को एक नया आकार प्रदान कर रहे थें। इस वातावरण में लेखकों को लिखने के लिए नये विषय दिए। उस समय का उपन्यास प्रायः इन्हीं आयामों को लेकर चला।

आवश्यकता आविष्कार की जननी मानी गई है। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप हमारे यहाँ 19 वीं शताब्दी में जब समाज के ढाँचे में मूलभूत परिवर्तन आया और समाज का स्वरूप जटिल से जटिलतम होता होता गया तब उस की अभिव्यक्ति के लिए एक नये साहित्य रूप की आवश्यकता थी जिसकी आपूर्ति उपन्यास के द्वारा हुई। उपन्यास के लिए अंग्रेजी में ëNOVELí शब्द प्रयुक्त होता है। इस शब्द से ही यह द्योतित होता है कि यह एक नया साहित्य प्रकार है। परन्तु इसी ëNOVELí के लिए हिन्दीं में उपन्यास शब्द प्रयुक्त होता है। जहाँ तक इस शब्द का सम्बन्ध है वह हमारे लिए नया नही है। नाट्यशास्त्र में प्रतिमुख संधि के एक भेद के रूप में उपन्यास शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यह साहित्य प्रकार नया है परन्तु उसके लिए जिस शब्द का चयन हुआ वह शब्द पुराना है।

ऊपर निर्दिष्ट किया गया है कि उपन्यास शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख नाट्यशास्त्र में प्रतिमुख संधि के भेद के रूप में हुआ है, जहाँ उसका अर्थघटन दो प्रकार से किया गया हैं - 'उपन्यासः प्रसादनम्' तथा 'उपपत्तिकृतो ह्यर्थः उपन्यासः।' अर्थात् उपन्यास मनोरंजन के लिए होता है। और उसमें कोई बात युक्तिपूर्वक कही जाती है।[1] पश्चिम से आयातित इस नये साहित्य प्रकार में उक्त दोनों बातों की पुष्टि मिलती है कदाचित इसलिए अंग्रेजी ëNOVELí के लिए इस शब्द का चयन हुआ होगा।

उपन्यास और गद्य

काव्य के वर्गीकरण में उपन्यास की गणना गद्य साहित्य के अंतर्गत हुई है। अतः युरोप में भी बोकाशियो, डेनियल डीफो, रीचार्डसन, स्मोलेट, स्टर्न, फील्डींग आदि प्रारंभिक दौर के उपन्यासकारों का लेखन अंग्रेजी में स्टील, एडीसन आदि लेखकों द्वारा परिमार्जित गद्य के सृजन के उपरांत ही उपलब्ध होता है। इस सन्दर्भ में डॉ. भारतभूषण अग्रवाल ने अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव' में लिखा है कि एडीसन, स्टील आदि निबंधकारों के प्रयत्न के फलस्वरूप और पत्रकारिता के पर्याप्त विकास के फलस्वरूप ऐसे गद्य का विकास हो चुका था जो वर्णन, विवेचन और चित्रण में समर्थ था।[2]

हिन्दी में आधुनिक काल के अंतर्गत खड़ी बोली गद्य का आविर्भाव होता है और गद्य के समुचित विकास के उपरान्त ही लालाश्री निवासदास, पं. बालकृष्ण भट्ट, पं.श्रद्धाराम फुल्लौरी, मेहता लज्जाराम शर्मा प्रभृति लेखकों की औपन्यासिक कृतियाँ उपलब्ध होती है।[3]

अतः यह तो एक निर्भान्त तथ्य है कि उपन्यास की गणना गद्य की विधाओं में होती है। उपन्यास की जो प्रारंभिक परिभाषाएँ उपलब्ध होती है, उनमें भी इस बात का संकेत मिता है। यथा उपन्यास की सर्वप्रथम परिभाषा न्यु ईंग्लीश डीक्शनरी में प्राप्त होती है जो इस प्रकार है-

ëA Novel is a Fictional prose of considerable length, in which actions and characters are professing to represent those of real life, are portrayed in a plot.í[4]

अर्थात् उपन्यास एक प्रकथनात्मक गद्य कृति है, जिसमें अपेक्षाकृत विस्तार के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करनेवालो पात्रों और कार्यों को कार्य-कारण श्रृंखला में प्रस्तुत किया जाता है। इसके प्रत्युत्तर में राल्फ फाक्स महोदय ने कहा कि-

ëThe Novel is not a merely fictional prose. It is a prose of Manís life, the first art to attempt, to take the whole man and give his expression.í[5]

अर्थात् उपन्यास केवल प्रकथनात्मक गद्य मात्र नहीं, प्रत्युत् मानवजीवन का गद्य है। उपन्यास वह पहली कला है जो मनुष्य को उसके समग्र रूप में लेती है और उसकी भावनाओं को अभिव्यक्त करती है।

उपर्युक्त दोनों परिभाषाओं में एक बात तो निर्विवाद रूप से कही गई है और वह यह कि उपन्यास गद्य की विधा है। राल्फ फाक्स ने तो आगे बढकर यहाँ तक कहा कि वह केवल प्रकथनात्मक गद्य नही है, अपितु मानवजीवन का गद्य है। मानवजीवन का गद्य कहने के पीछे उनका अभिप्राय यह है कि उपन्यास में जो गद्य प्रयुक्त होता है, वह प्रायः बोलचाल की भाषा का गद्य होता है। उपन्यास में जहाँ लेखकीय वक्तव्य, कथन, वर्णन, विश्लेषण आदि आते हैं वहाँ तो मानक भाषा (Standard language) का प्रयोग होता है परन्तु कथोपकथनों की भाषा में भाषा का बोलचालवाला रूप (Spoken language) उपलब्ध होता है।

एक अन्य आंग्ल आलोचक ईरा वाल्फर्ट ने उपन्यास की भाषा के सन्दर्भ में जो टिप्पणी की है उससे भी प्रतीत होता है कि उपन्यास में प्रयुक्त की जानेवाली भाषा मानवजीवन की जीवंत भाषा याने कि बोलचाल की भाषा होती है। ईरा वाल्फर्ट का कथन है-

ëA Novel is a story of ideas plotted in language of human life being lived.í[6]

उपन्यास में वर्णन, विश्लेषण एवं टिप्पणियों के अतिरिक्त, उसका अन्य व्यापार तो पात्रों के कथोपकथनों के माध्यम से होता है और पात्र परिवेश तथा शिक्षा की निपज होते हैं। अतः उनकी भाषा written language में नहीं अपितु spoken language का प्रयोग होता है। वस्तुतः ऐसी भाषा वही लेखक लिख सकता है जिसको उपन्यास में निरूपित परिवेश का अपरागत (First hand) अनुभव हो, और जिसने अपने आस-पास के जीवन को बहुत करीब से देखा हो। फणीश्वरनाथ रेणु द्वारा प्रणीत 'मैला आँचल' उपन्यास में बिहार के पूर्णिया जिले के अत्यन्त पिछड़े ऐसे मेरीगंज गाँव के जीवन को लिया है। उसमें विभिन्न जातियों और टोलियों के लोग निवास करते हैं। प्रत्येक जाति और टोली के व्यक्ति की भाषा अलग-अलग प्रकार की है। इस सन्दर्भ में गुजराती के ख्यातनाम कवि आलोचक उमाशंकर जोशी ने 'मैला आँचल' की समीक्षा करते हुए एक सार्थक एवं सारगर्भित टिप्पणी की थी कि इस

उपन्यास में लेखक ने कम से कम 150 भाषागत Tons और Language slangs का उपयोग किया है।[7]

इसीलिए हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठित कथाकार राजेन्द्र यादव रेणु की भाषा के सन्दर्भ में कहते हैं - रेणु का पाठक कहानी पढ़ता नहीं देखता है, सुनता है। एक एक ध्वनि, एक-एक रंग, एक-एक गंध को महसूस करता हुआ जीता है। वातावरण-परिवेश जो कथा-साहित्य का मात्र एक तत्व ही माना जाता रहा, कदाचित् सर्वप्रथम जीवित पात्र की तरह अपना हक रेणु से मांगता है।[8]

'मैला आँचल' उपन्यास में एक स्थान पर रमजूदास की पत्नी फुलिया की माँ को व्यंग्य-बाणों से आहट करते हुए बुरी तरह से लताड़ती है। यथा - "तुम लोगों को तो न लाज है न शरम। कब तक बेटी की कमाई पर लाल किनारीवाली साड़ी चमकाओगी? आखिर एक हद होती है किसी बात की? मानती हूँ कि जवान विधवा बेटी दूधार गाय के बराबर है, मगर इतना भी मत दूहो कि देह का खून ही सूख जाय।" [9]

रेणु के 'मैला आँचल' में बिहार के पूर्णिया जिले के मेरीगंज गाँव के परिवेश को लिया गया है। उस गाँव में अलग-अलग जाति और टोली के लोग रहते हैं। रेणु उनकी जबान में लिखते हैं, क्योंकि वहाँ के जीवन में वे रस-बस गये हैं। रेणु की इस भाषिक शक्ति के सन्दर्भ में समकालीन कथा-साहित्य के एक बड़े ही सशक्त हस्ताक्षर गोविंद मिश्र रेणु की उक्त विशेषताओं को निम्नलिखित शब्दों में रेखांकित करते हैं-

"मैं जो परिवेश उठाता हूँ, उसमें अपनी भाषा ले जाने बजाय वहाँ की भाषा ढूँढता हूँ।......तो खुद को मैं खुला रखना चाहता हूँ कि भाषा भी जमीन की आये, उसी जमीन ताल्लुक है रेणु और कबीर का।.... (कवि) का व्यक्तित्व पूरा का पूरा सरोबार हो उस जमीन में तो वहाँ की गंध उसमें आएगी। कबीर का फक्कड़पन हिन्दुस्तान का फक्कड़पन है। इसलिए कबीर की चीजों में भले ही तुलसीदास की अंतरंगता आपको न मिले, भले ही आपको ज्ञान की बातें न मिले, लेकिन उबड़-खाबड़ ढंग से छोटी-छोटी बातों में, झटके में बहुत-सी बातें कह दी गई हैं बिना परवाह किए कि क्या कहा है, क्या हुआ है। यह आम हिन्दुस्तान की चीज है, जहाँ एक साधारण आदमी भी मामूली ढंग से बड़ी-बड़ी बातें कह जाता है। उसे पता भी नहीं होता। यह जो भारतीय तत्व है वह मुझे दूसरे लेखकों में कम दिखता है। रेणुजी से तो आज तक ईर्ष्या करता हूँ कि मैं उस हद तक सरोबार नहीं हो पाया।....... मैं चाहता हूँ कि मेरी रचनाओं में वह चीज आये, लेकिन मुश्किल यह है कि रेणुजी रेणु है, मैं मैं हूँ।"[10]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि उपन्यास का गद्य से अभिन्न सम्बन्ध है, बल्कि यू कहना चाहिए कि उपन्यास गद्य की ही विधा है। काव्य वर्गीकरण में भी गद्य रूपों के अंतर्गत ही उसे स्थान दिया जाता है।[11] परिणाम स्वरूप यह देखा गया है कि प्राय: संसार की तमाम भाषाओं में गद्य के समुचित विकास के उपरांत ही उपन्यास का आविर्भाव हुआ है।

उपन्यास का परिवेश और भाषा

उपन्यास में परिवेश के तत्व का अपरिहार्य महत्व है। परिवेश के लिए देशकाल तथा वातावरण जैसे शब्द भी प्रचलित हैं। देशकाल शब्द में दो शब्द हैं - देश और काल । देश से तात्पर्य स्थान या भौगोलिक स्थिति विशेष (Geogrophical setting) से है और काल से तात्पर्य समय-विशेष या काल-विशेष से है। दूसरे शब्दों में कहे तो उपन्यास की कथा किसी स्थान विशेष और काल-विशेष से संलग्नित होती है। उपन्यास में विश्वसनीयता (Probebility) का निर्माण करने में परिवेश के तत्व का विशेष महत्व होता है। किसी भी घटना की Probebility उक्त दो तत्वों पर निर्भर रहती है - देश और काल। कोई घटना किसी स्थान पर शतप्रतिशत यथार्थ प्रतीत होती है, परन्तु वहीं घटना स्थान के परिवर्तिन हो जाने पर अयथार्थ भासित होगी। नैनीताल की तराई में थारु जाति के आदिवासी निवास करते हैं। इन आदिवासियों में एक रिवाज है कि सोने से पूर्व वे अपनी पत्नी की चरण-सेवा करते हैं।[12] अत: यदि उनके परिवेश पर कोई उपन्यास लिखा जाए तो वहाँ यह घटना यथार्थ प्रतीत होगी, परन्तु अन्यत्र वह अयथार्थ लगेगी। राजेन्द्रकुमार झा द्वारा लिखित 'पुनर्वास' उपन्यास इसी थारु जाति के परिवेश पर आधारित उपन्यास है।

वातावरण या देशकाल का चित्रण उपन्यास की वास्तविकता में वृद्धि करता है। मनुष्य बहुधा देशकाल की उपज होता है। अंग्रेज स्वभावत: Reserved, अमेरिकन व्यवसायी, जर्मन वैज्ञानिक एवं भारतीय धर्मभीरु होता है। गुजरात में हिसाबी के लिए अमदावादी और मनमौजी और रंगीली व्यक्ति के लिए सुरतीवाला शब्द प्रयोग मिलता है। स्थल की भाँति काल या समय भी व्यक्ति के वैचारिक धरातल को प्रकाशित करता है। सामंतकालीन व्यक्ति का चिंतन गांधीवादी नही हो सकता। अत: उपन्यास में देशकाल का महत्व और भी बढ़ जाता है। वातावरण वह फ्रेम है जिसमें उपन्यास के कथावस्तुरूपी फोटोग्राफ को रखा जाता है। जिस प्रकार बिना अँगूठी के नगीना शोभा नहीं देता उसी प्रकार बिना देशकाल के पात्रों का व्यक्तित्व भी स्पष्ट नहीं होता है। और घटनाक्रम को समझने के लिए भी इसकी आवश्यकता रहती है।

आज-कल के कुछ उपन्यासों में तो देशकाल का चित्रण वैज्ञानिक सीमा तक पहुँच गया है। पश्चिम में हार्डी के वेसेक्ष नावेल्स अपने जीओग्राफिकल सेटिंग के लिए विख्यात हैं। इसी तत्व के आधार पर अंग्रेजी में आयरिश नोवेल्स, स्कोट नोवेल्स, केनेडियन नोवेल्स जैसे कुछ प्रकार प्रचलित हुए हैं। हिन्दी में आँचलिक उपन्यासों के लिए देशकाल या वातावरण मानो प्राणतत्व है। वस्तुतः देखा जाय तो आँचलिक उपन्यास का वास्तविक नायक ही वातावरण है।[13]

उपन्यास में वातावरण या परिप्रेक्ष्य की उपादेयता को रेखांकित करते हुए आंग्ल विवेचक लिखते हैं

H.P. Lathrope - "It is the soil in which they grow, the atmosphere which they breath, the medium which sustains, envelopes, nouarishes and controls them and determines their manner of being."[14]

अर्थात् यही वह धरातल है जिसमें (पात्र) उत्पन्न होते हैं, यही वह वातावरण है जिसमें वे सांस लेते हैं, यही वह माध्यम है जो उन्हें जीवित रखता है, उन्हें आशान्वित करता है, उनका पालन तथा नियंत्रण करता है तथा उनके रहने के ढंग का नियोजन करता है।

अभिप्राय यह कि उपन्यास में यथार्थता एवं विश्वसनीयता लाने के लिए परिवेश के तत्व की अपरिहार्यता असंदिग्ध है। इस परिवेश के निर्माण के लिए या कहे यथार्थ परिवेश के निर्माण के लिए जो अन्य अनेक कारण महत्वपूर्ण है उनमें भाषा भी एक महत्वपूर्ण कारक है। भाषा के द्वारा ही विभिन्न प्रकार के परिवेशों को आकार मिलता है। उपन्यास का जैसा परिवेश होगा - समसामयिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, आँचलिक, व्यंग्यात्मक - भाषा का स्वरूप भी उसके अनुसार रहेगा।

शैलेश मटियानी कृत 'हौलदार' कुमाऊ प्रदेश के परिवेश पर आद्धृत आँचलिक उपन्यास है। अतः उसकी भाषा में वहाँ के लोगों की बोली का टोन मिलता है। उपन्यास का नायक डुंगरसिंह एक अन्य पात्र किसनसिंह से जो वार्तालाप करता है उसमें उक्त भाषाकीय विशेषताएँ परिलक्षित हो रही हैं। यथा - "और मैं भी संभल रहा हूँ। कुछ बिजनिश याने काम-काज का मिज़ाम बिठाने की कोशिश में हूँ। और बिजनिश में ताकत शेर की जैसी, मगर बुद्धि शियार की जैसी रखनी पड़ती है..... इतना कहने के बाद, डुंगरसिंह ने आगे बढ़ने को पाँव उठाया तो बैसाखी पर जरा अधिक जोर पड़ गया। किसनसिंह सहानुभूति के साथ बोले - 'पाँव ज्यादा लचकता

- दु:खता है डुंगर? इस जाठी, यानी बैसाखी का कसुर है, किसनचाचा!' डुंगरसिंह मुस्कुराने की चेष्टा करते हुए बहुत ही सधे स्वर में बोला - 'और, किसनुका खुदा खुद संभाल देता है हर इन्सान को, दर-दर की ठोकरें खिलाने के बाद !' डुंगरसिंह आगे को बढ़ रहा था किसनसिंह के कलेजे में चुभे हुए कांटों में एक जरा बाहर को निकला - जरा ठैर जा, डुंगर बेटे ! डुंगरसिंह रुक गया किसनसिंह आग्रहपूर्वक बोले - 'तू तो सीधे अपने घर को चला जा रहा है, डुँगरियाँ बेटे? दो पाँव मेरे घर-पटाँगण के पत्थरों पर भी रख देगा, तो कौन-सी बड़ी बात हो जाएगी? नीचे से ठोकदार-की - बाखली तक आता ही रहता है तू, मगर जरा बालिश्त-भर की दूरी पर हमारी डँगरियों-की-बाखली दूर हो गई?......

डुंगरसिंह किसनसिंह के घर की ओर मुड़ा - 'नहीं, नहीं, किसनू चचा। आपको गलतफैमी हो रही है। अरे, डुंगरसिंह के लिए कौन-से थोकदार-चचाजी, और कौन-से किसनू का जी-दोनों पुण्य पुरखें, दोनों बुजुर्ग है। दोनों का आशीरबाद सिर पर चाहिए। मैं तो अक्सर इस दोयमचिती में रह गया, कि किसनू का कहीं काम से निकले हुए रहेंगे, तो और वहाँ - सिर्फ एक गोपुली काकी को छोड़ के किसी दूसरे से ज्यादा मुख बोलन्ती भी नहीं है।'

किसनसिंह ने पुकारा - कलावती, डुँगरिया भतीज के बैठने को एक फिण या बोरिया दे जा, भांजी! और, एक चिलम हाईक्लास टेस्ट की तमाखू भर दे। डुँगरिया भतीज कैंचीमार की बहुत बड़ाई करता है, मगर कड़वा-खमीरा मिक्स तमाखू की चिलम अगर कोई जरा कोशिश करके भर दे - गट्टी ऐसे लगे, कि छोटे-छोटे छेद रह जावें, और तमाखू की गोल टिकिया-जैसी बनाके, उस पर पतीली को तरकीब से जमा दिया जाए, साथ में कोयले राख झाड़ के एकदम लाल-लाल भरे जावें - अहा ! खुशबु - खमीरे और खुशनुमा धुँए से सम्पूर्ण मुख-मण्डल भर जाता है।''[15]

उपर्युक्त परिच्छेद में मिज़ाम, जाठी, डँगरिया, बाखली, दोयमचित्ती, मुखबोलन्ती, भतीज, कैंचीमार जैसे शब्दों से कुमाऊ प्रदेश का ग्रामीण परिवेश प्रत्यक्ष हो उठता है।

'कथासूर्य की नई यात्रा' हिमांशु श्रीवास्तव का एक व्यंग्यात्मक उपन्यास है। लेखक ने व्यंग्य की सृष्टि के लिए फैण्टसी का प्रयोग किया है। उसमें प्रेमचन्द की आत्मा अधुनातम हिन्दी साहित्य का जायजा लेने अवतरित होती है। उपन्यास में एक स्थान पर लेखक ने कवि-संमेलन का दृश्य चित्रित किया है। उसमें एक बुद्धिवादी कवि अपनी कविता प्रस्तुत करते हैं। कविता प्रस्तुत करने पूर्व वे भूमिका बांधते हैं। ''देखिए, प्रोज़ और पोएट्री में बड़ा अंतर होता है पोएट्री जन्म से ही प्रोज़ के

मुकाबले अधिक क्लासिक रही है।....... मेरे पास समय नहीं है। इसलिए अभी मैं आप लोगों को सिर्फ एक रचना सुनाउँगा। ध्यान से सुनीऐगा तो इसका आनंद ले पाइएगा। सुनते समय आपको इस बात का ध्यान रखना है कि मैं कहाँ जोर देता हूँ, कहाँ रुकता हूँ, कहाँ एक शब्द को खण्डित कर देता हूँ। लय और बिंब को पकड़ने की कोशिश कीजिए।''[16]

बुद्धिवादी कवि की इस बात को सुनकर एक वृद्ध श्रोता धीरे से बोलता है - ''प्रसाद और निराला को भी सुना है। वे लोग भी समज में आते हैं और चुपचाप अपनी रचना सुना देते हैं । हे भगवान, यह कैसा बुद्धिवादी कवि है!''[17]

इसके पश्चात् वह कविता दी है जो वह बुद्धिवादी कवि सूनाता है-

''ओ

मेरी

पोर्शिया, चौंको मत

इंडियन पोर्शिया......

जब हम

शाम के एक

धुँ

ध

लके में........

मिले थे एक गन्दे तालाब के किनारे।

एक अलसेशियन की इंडियन प्रेमिका

ने एक साथ जन्म दिये थे,

तीन श्वान, छौनों को।

मैंने देखा था, तेरी.....

ऐस-कलर पुतलियों का

तेरी नायलोन की साड़ी से...

तैरती प्रीत-गंध-

ने मुझ से कहा, करुँ कामना

तुम्हे माँ बनाने की

मेरी अव्यक्त, दमित कामना को
तुमने और भी दबाया था
बर्थ-कंट्रोल और एर्बारशन को रेकोमेन्ड कर,
एतदर्थं, हम ही एक-दूसरे को भोगेंगे-
देहयष्टि का रस सोखने को है, सोखेंगे, सोखेंगे,
सोखेंगे............।''[18]

यहाँ पर व्यंग्यात्मक परिवेश है। अतः लेखक ने तदनुरुप भाषा का प्रयोग किया है। इधर हिन्दी की नयी कविता में प्रयोगों को लेकर जो वितण्डावाद चला है लेखक उस पर व्यंग्य करना चाहते हैं, अतः भाषा भी उसी व्यंगल तेवर को लेकर आई है।

डॉ. नगेन्द्र कोहली ने रामायण के विषयवस्तु को आधार बनाकर एक उपन्यास-माला का सृजन किया है। उसमें 'दीक्षा', 'अवसर', 'युद्ध' प्रभृति उपन्यास आते हैं। च्यूंकि इन उपन्यासों का विषय वस्तु रामायण काल के परिवेश पर आद्धृत है। अतः उसकी भाषा में भी अभिजात्य संस्कृतिनिष्ठता, तत्कालीन पारिभाषक शब्दावली इत्यादी का स्पर्श दृष्टिगत होता है। 'दीक्षा' उपन्यास में दशरथ की राजसभा में विश्वामित्र पधारते है उस प्रसंग का आलेखन कोहलीजी ने किया है। यहाँ उस प्रसंग से सम्बद्ध कुछ गद्य खण्ड देने का उपक्रम है। ऋषि विश्वामित्र के आने पर राजा दशरथ के राजपुरोहित अप्रसन्न थे । उस सन्दर्भ में दिया गद्यखण्ड भाषा तथा परिवेश की एकरूपता को प्रमाणित करता है। यथा - ''वे (विश्वामित्र) जानते थे कि वसिष्ठ उनके आने से प्रसन्न नहीं हो सकते । उनके शिष्य नृप की सभा में कोई अन्य ऋषि सम्मान पाये, यह उन्हें कैसे प्रिय होगा। यदि ऋषियों, विद्वानों, चिंतकों, बुद्धिजीवियों में इस प्रकार अहंकार तथा द्वेष न होता तो आर्यावर्त और जम्बुद्विप की यह अवस्था न होती। यदि मन में द्वेष न होता तो वसिष्ठ राजसभा से उठकर उनके स्वागत के लिए दशरथ के साथ बाहर आये होते, सभा में उनके आने पर प्रसन्नमुख उनका स्वागत करते। इस प्रकार स्तब्ध से किंकर्तव्यूमढ़ न बैठे रह गये होते।''[19]

विश्वामित्र और दशरथ के बीच जो संवाद होता है वह भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है।

'' 'राजन !' विश्वामित्र के मुख पर मन्द हास था, 'कुछ मांगने आया हूँ। बोलो, दोगे?''

''आज्ञा करे, ऋषि श्रेष्ठ।''

''प्रतिश्रुत होते हो?''

"मैं प्रतिज्ञा करता हूँ।"

"तो सुनो, राजन !" विश्वामित्र की वाणी में अपने लिए आश्वस्ति और दशरथ के प्रति व्यंग्य था, "मैं नही जानता, तुम्हारी राजसभा में कितनी चर्चा राजनीति की होती है और कितनी ब्रहमवाद की। पर संभव है कि तुम्हें यह सूचना हो कि जम्बूद्विप के दक्षिण में लंका नामक द्वीप में रावण नामक एक राक्षस बसता है...... वही रावण अब अपने सैनिक शिविरों का जाल फैलाकर, आर्यावर्त को घेर रहा है, ताकि एक ही बार में सब ग्रस सके। उसका एक ऐसा ही शिविर मेरे सिद्धाश्रम के पास ताड़कावन में भी है। उस वन में विकट राक्षसी ताड़का उसका बेटा मारीच तथा उसका सहायक सुबाहु अपने राक्षस-सैनिकों के साथ रहते हैं। वे लोग रावण की प्रेरणा से मुझे निरंतर पीड़ित करते हैं। मैं जब भी कोई यज्ञ आरंभ करता हूँ, वे मेरे आश्रम पर रक्त और मांस की वर्षा कर देते हैं। इस निरंतर उत्पीड़न के कारण सिद्धाश्रम में न तो कोई नया प्रयोग हो सकता है, न तप, न यज्ञ, न ज्ञान-विज्ञान की चर्चा । राक्षस-चाहते हैं कि मैं अस्त्रों के क्षेत्र में नये प्रयोग एकदम न करुं, जो दिव्यास्त्र प्राप्त करने के पश्चात् कदाचित् वे मुझे भी जीवित नहीं छोडेंगे। किन्तु राजन्! यदि वे दिव्यास्त्र मैंने उन राक्षसों को दे दिये, तो वे लोग और अधिक शक्तिशाली हो उठेंगे, और सम्पूर्ण आयावर्त को पीड़ित करेंगे। मैं उन राक्षसों के विरुद्ध तुमसे सहायता लेने आया हूँ।"[20]

यहाँ आर्यावर्त, जम्बूद्विप, ब्रह्मवाद, शिविर, सिद्धाश्रम, सुबाहु, ताड़कावन, दिव्यास्त्र प्रभृति शब्दप्रयोग उपन्यास के पौराणिक परिवेश के कारण है।

शैलेश मटियानी कुमाऊ प्रदेश के लेखक है। उनके कई उपन्यासों में कुमाऊ का ग्रामीण परिवेश प्रत्यक्ष हुआ है। ग्रामीण-परिवेश में लोक-देवताओं का विशेष महत्व होता है। उनका एक उपन्यास है - 'मुखसरोवर के हंस' जो लोकगायक की शैली में लिखा गया है। कथा गायक रमोलिया उपन्यास की कथा का आरंभ ही इस प्रकार करता है - "एक समय काल ने क्या करवट, पवन ने क्या दिशा बदली कि पंचाचुली पर्वतश्रेणी की गुरुस्थली में पंचनाम देवों की, भाइयों की भेंट, केदार की यात्रा हुई । पंचनाम देव कौन? गोल्लगंगनाथ, भोला महाबलिहरु और शेम राजा। काली कुमाऊ, पालि पछाऊ के पाँच लोक-देवता, कि पड़ती संध्या जगती भौर में, जिनके नाम की पहली धुपबाती होती है, कि पहली फूलपाती चढ़ती है, कि हम तुम्हारा नाम लेते हैं! ए हो पंचनाम देवों कथा कहने का दिवस और, निशा और, कि पहले तुम्हारी सेवा में युगल हाथ नत माथ करते हैं, कि ऊँची अटारी, नीची पटारी पर जलता दिया जलता रहे, कि रेशन की दोर, मखमली पालने में कुसुमकण्ठी

बालक झुलता रहे, कि गहरे सरोवर की नीली लहरों में खिला कमल खिलता रहे,कि हम तुम्हारा नाम लेते हैं। और शीतल फुव्वार पड़ती, नशीली बयार चलती और ठण्डी पनार पड़ती रहे, कि इस कुमाऊ की धरती फूलों से महकती रहें, कि इस कथा की पावन बेला में हम तुम्हारा नाम लेते हैं। सिर से ढोक देते पाँव से लौट लेते हैं कि पड़ती संध्या जगती भोर में जिस गृहिणी ने तुम्हारे नाम का दीपक जलाया और तुम्हारे नाम की फुलपाती चढ़ाई, उसके गोठ की गइयाँ, गोदी के बालक की उम्र बड़ी करना। जिस घर के स्वामी ने तुम्हारे नाम की पंचमुखी आरती जलाई सूर्यमुखी शंख बजाया कांस्य घण्टी हिलायी दिपबाती जलाई, उसे पट्टी का पटवारी, गाँव का मुखिया, जिले का कलेक्टर बनाना, कि उसका रुतबा उठाना, कुनबा बढ़ाना कि हम तुम्हारा नाम लेते हैं।''[21]

यहाँ पर कुमाऊ प्रदेश के लोकगायक रमोलियों की भाषा को लेखक ने यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। यह भाषा उपन्यास में निरूपित परिवेश के बिलकुल अनुरूप है।

जगदम्बाप्रसाद दीक्षित का उपन्यास 'मुर्दाघर' बम्बइ की गन्दी घिनौनी सड़ांध से भरी हुई झोपड़पट्टी की यथार्थ चित्रों को प्रस्तुत करनेवाला उपन्यास है। बम्बई में एक तरफ तो गगनचुम्बी इमारतें हैं और दूसरी तरफ उनके समानान्तर अनेक झोपड़पट्टियाँ और फूटपाथ है जहाँ पर लाखों-करोड़ों मनुष्य जानवरों से भी बदतर जिन्दगी जी रहे हैं। इस उपन्यास का एक पात्र नथ्थु जब्बा नामक एक दूसरे पात्र को पुलिस के अमानुषी व्यवहार के सम्बन्ध में बताता है- ''किधर भी चोरी करना, पण इस्मलगर, दारुवाला, खण्डीवाला इधर कभी भूलके भी नहीं जाने का, नहीं तो पोलिस जान से मार डालेंगा मार-मार के, कभी नहीं छोडेंगा...... सारा पोलिखाता उधर से च चलता।''[22]

यहाँ पर च्यूंकि लेखक ने बम्बई की माहीम की झोपड़पट्टी के परिवेश को चित्रित किया है इसलिए जान बुझकर 'बम्बइयाँ भाषा' का प्रयोग किया है।

हमारे आलोच्य लेखक डॉ. भगवतीशरण मिश्र ने सामाजिक, ऐतिहासिक एवं पौराणिक उपन्यास लिखे हैं। 'प्रथम पुरुष' उनका एक पौराणिक उपन्यास है जिसमें उन्होंने कृष्ण के चरित्र को लिया है। उपन्यास का परिवेश पौराणिक होने के कारण उसकी भाषा संस्कृत परिनिष्ठित हो गई है। वृद्धावस्था मे सौ-सौ चंद्रमाँओं की शोभा जिस पर न्योछावर कर सके ऐसे सुन्दर नीलमणि के कान्ति से दीप्त पुत्र को मानकर नन्द और जशोदा दोनो को जो अलौकिक प्रसन्नता होती है उसका वर्णन करते हुए

लेखक ने मानों उपमाओं की माला सी बना दी है। यथा - "अमावास्या की रात्रि में किसी गहन विपीन में पथ भूले किसी पथिक को आकाश में सहसा पूनों का भरा-पूरा चाँद दिख जाय और उसका पथ आलोकित हो उठे तो क्या कहेंगे आप उसके भाग्य को? तृष्णा से कण्ठगत प्राण हुए किसी मरु-यात्री को अकस्मात समीप में ही सलिल से लबालब सरोवर दिख जाय तो उसके हर्ष की पराकाष्ठा की परिकल्पना कर सकते हैं आप? किसी व्याघ्र की मांद में भ्रमवश भटक पड़े मनुष्य के प्राणों की रक्षा अगर इसलिए हो जाय कि ठीक छलांग लगाने के काल व्याघ्र पर लकवे का आक्रमण हो जाय और वह अपने स्थान पर पाषाणवत् पड़ा रह जाय तो नवजीवन प्राप्त उस व्यक्ति की प्रसन्नता को माँपने का कोई उपाय है आपके पास? जन्म से ही दरिद्र, अन्न के दो दोनों को भी तरसते किसी अकिंचन के सिर पर अकस्मात स्वर्ण किरीट सजा दिया जाय तो उसके इस भाग्योदय को क्या संज्ञा देंगे आप?"[23]

उसी प्रकार मिश्रजी का 'पीताम्बरा' उपन्यास हिन्दी की भक्त कवयित्री मीराबाई को लेकर लिखा गया है। उपन्यास के अभिजात परिवेश के कारण उसकी भाषा में भी अभिजात्य का एक पुट दृष्टिगोचर होता है। इस उपन्यास में मीरा के दिन प्रतिदिन बढ़ने का जो आलंकारिक वर्णन लेखक ने किया है वह उसके परिवेश के सर्वथा अनुरूप है। यथा- "मीरा बढ़ रही थी। आयु में, बलबुद्धि और विवेक में, साथ ही वृद्धि हो रही थी रंगरूप,आकर्षण और स्वर्गीक सौंदर्य में भी..... मीरा बढ़ रही थी - शुक्लपक्षे यथा शशी .... तो मीरा बढ़ रही थी उजले पक्ष के उस चांद की तरह जिसकी कलाएँ प्रतिदिन नहीं, प्रतिरात्री नहीं, प्रतिक्षण बड़ी तीव्रता से बढ़ती हुई अपनी सम्पूर्ण संख्या को प्राप्त कर लेना चाहती है। हा, उस चांद की तरह जिसे भाद्र पक्ष के काले, भयावह और कुरूप मेघ भी अपने सारे षड़यंत्र के बदले बढ़ने से रोक नहीं पाते..... जी तो मीरा बढ़ रही थी जैसे सूर्य-रश्मियों का प्रथम स्पर्श पा कमल पुष्प के दल के दल प्रसन्नता-विभोर हो बढ़ने लगते हैं, उनका संकुचन-अवगुण्ठन समाप्त होने लगता है, उनके बंद मुख खुलने लगते है, उनकी कलियाँ चटकने लगती है।...... खेर मीरा बढ़ रही थी, जैसे पुनों के चांद की रूपहली किरणों का दुलार पा कुमुदिनियाँ चटक-चटक जवान बन जाती है और मधु बिखेरने लगती है।"[24]

अभिप्राय यह कि उपन्यास में निरूपित भाषा का परिवेश के साथ अभिन्न सम्बन्ध है। लेखक जिस परिवेश को उठाता है उसे यथार्थ एवं स्वाभाविक बनाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। यदि भाषा परिवेश के अनुरूप न होगी तो उपन्यास की विश्वसनीयता संदिग्ध हो जाती है।

चरित्र-चित्रण में भाषा का योग

उपन्यास में चरित्र-चित्रण का अपरिहार्य महत्व है। मुंशी प्रेमचंद ने उपन्यास की जो परिभाषा दी है, उसमें विशेषरूप से परिभाषित किया है कि उपन्यास मानव चरित्र का चित्र है और मानवचरित्र के रहस्यों पर प्रकाश डालना उपन्यासकार का मुख्य कार्य है।[25] पोप ने भी कहा है कि साहित्य का उद्देश्य मानवजीवन का अध्ययन करना है। और जब हम मानवजीवन का अध्ययन करते हैं तो असंदिग्धतया मानवचरित्र हमारे सामने उभरकर आते हैं। मानवचरित्र को समझने के लिए उपन्यास सर्वथा उपयोगी विधा है।

फलतः वह उपन्यासकार सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, जो अपनी औपन्यासिक कृतियों में मानवचरित्रों को ठीक ठीक रूप से प्रस्तुत करता है। हिन्दी में पूर्व प्रेमचन्दकाल में हमे ऐसा सफल मानव चरित्रांकन उपलब्ध नहीं होता था। डॉ. एस.एन.गणेशन बिलकुल सही कहते हैं कि मानवचरित्रों की सही पहचान हमें सर्वप्रथम मुंशी प्रेमचंद कराते है।[26]

यहाँ हमारी चर्चा का विषय यह है कि उपन्यासों में मानवजीवन का यह जो चरित्र-चित्रण उपलब्ध होता है उसमें लेखक के भाषा-कर्म का महत्व अत्यधिक रहता है। जिस प्रकार बिना उचित रंगों के किसी छवि का निर्माण नहीं होता, ठीक उसी प्रकार उचित भाषा के बिना सही चरित्र का निर्माण भी नहीं होता। भाषा के साथ मनुष्य के परिवेश और संस्कार जुड़े हुए है। जब कोई मनुष्य बोलता है तो उसके साथ-साथ उसका परिवेश भी बोलता है। भाषा मनुष्यों के संस्कारों की पाराशीशी भी है। यहाँ हम एक बहुप्रचलित बोधकथा के उल्लेख का मोह संवरण नहीं कर पा रहे। उस कथा में एक प्रज्ञाचक्षु संत नृप, मंत्री एवं सेवक को केवल उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा के आधार पर परिज्ञानित करता है। मनुष्य अपने को लाख छिपाने का यत्न करे परन्तु उसके परिवेश और संस्कारों की भाषा उसमें आ ही जाती है। ऐसी ही एक दूसरी कथा भी प्रचलित है जिसमें कोई बनिया किसी भीलनी को लेकर बम्बई भाग जाता है। भीलनी सेठानी बन जाती है परन्तु एक बार मेहमानों को भोजन करवाते समय उसके मुँह से निकल ही जाता है- અરે! લો ને હજી તમે ખાધું જ ક્યાં છે આ કૂતરાની કોન જેટલી રોટલીમાં શું ભૂખ મટવાની?
अर्थात् (अभी और लो आप ने खाया ही क्या है यह कुत्ते के कान सी रोटी में क्या भूख संतुष्ट हो सकती है?)

उपर्युक्त उदाहरण में सेठानी के मुँह से कुत्ते के कान सी रोटी का जो जुल्मा

निकलता है उसके पीछे उसका पूर्वपरिवेश और संस्कार ही कारणभूत है।

चरित्र-निर्माण में भाषा-कर्म के योग को तीन दृष्टियों से वर्गीकृत कर सकते है:-

(क) चरित्र-निर्माण में लेखक द्वारा प्रयुक्त भाषा

(ख) स्वयं पात्र द्वारा प्रयुक्त भाषा और

(ग) किसी अन्य पात्र द्वारा प्रयुक्त भाषा

यहाँ उक्त तीनों दृष्टियों पर उपन्यासों से कुछ उदाहरणों को लेते हुए चर्चा करने का उपक्रम है।

(क) चरित्र-निर्माण में लेखक द्वारा प्रयुक्त भाषा

जब लेखक किसी चरित्र की सृष्टि करता है,तो उस प्रक्रिया में जिस भाषा का वह प्रयोग करता है, वह भाषा भी उस चरित्र के अनुरूप होती है। गुलेशेरखान शानी कृत 'साँप और सीढ़ी' उपन्यास में लेखक ने धानमां - जिनका शैशव और युवानी का नाम चम्पा था - के चरित्र की सृष्टि की है। यह चरित्र बड़ा सशक्त है। लेखक ने धानमां के सन्दर्भ में लिखा है - "बीस वर्ष पहले की धानमां चम्पा है। क्या सचमुच उसका रंग चम्पे जैसा था? मँझोला कद और भरे शरीरवाली चम्पा हलबा जाति की आदिवासी बाल विधवा है। दूसरे ब्याह की कोई रोक टोक नहीं, आदिवासी समाज में उसकी अनुमिति भी है। लेकिन अभी शादी के विषय में सोच भी न पाई थी कि माँ जाती रही। परम्परागत पेशा या धंधा जो भी हो लेकिन घर पर यह धंधा पता नहीं क्यों शुरु से था। अजीब बात है कि विधवा माँ ने जीवनभर गल्ले का धंधा किया था - यही कुछ धान-सरसों लेकर आस-पास के देहात के बाजारों में जाना बेच बाचकर लौट आना जब तक माँ जीवित रही चम्पा भी उसका साथ बाजार-बाजार लेकर दिया करती थी। उसके बाद उसने स्वयं अकेले दम पर वह धंधा अपना लिया। माँ की बीमारी में गाड़ी-बैल बिक गए थे और पंद्रह-बीस मील के गाँवों तक पहुँचने में दिक्कत पड़ने लगी थी लेकिन जब तक वह नए बैल खरीदने की स्थिति में न आ गयी, बीस-बीस मील का यह बाजार वह पैदल ही तय कर आती थी। धीरे-धीरे यह सब हो गया और इसी धान के रोजगार को लेकर (जिसके कारण पहले वह धान-बाई और बाद में धान मां कहलाई) नगरनार बाजार और कस्तूरी गाँव से अपनापा हो गया। इसी नगरनार के किसी बाजार-दिन हीरासिंह से उसकी भेंट हुई और धीरे-धीरे कस्तूरी से उसका अटूट सम्बन्ध बन गया। उसे याद है कि हर शुक्रवार का जिस दिन बाजार लगता है, वह कितनी बेसब्री से इंतजार किया करती थी।"[27] यहाँ भाषा

तो शानीजी की है, परन्तु उपर्युक्त परिच्छेद को पढ़कर धानमां के चरित्र की एक-एक रेखा उभर आती है। हलबा जाति की आदिवासी होते हुए उनके उच्च संस्कार, मातृभक्ति, कठोर परिश्रम अशिक्षित होते हुए भी पारम्परिक दक्षता के द्वारा अर्जित आत्मनिर्भरता, जीवट, जुझारुपन, सच्चे प्रेम की अनुभूति प्रभृति बातों के कारण धानमां का चरित्र पाठक के मानसपटल पर स्थित हो जाता है। और यह हुआ है लेखक की उस भाषा-शक्ति द्वारा जिसने उस चरित्र-निर्माण में चरित्र के अनुरुप भाषा का प्रयोग किया है।

(ख) चरित्र या पात्र की भाषा

प्रत्यक्ष चरित्र-निर्माण विधि में तो किसी पात्र का चरित्रांकन करते हुए लेखक अपनी भाषा का प्रयोग करता है, जैसा कि उपर कहा गया है। परन्तु चरित्र-निर्माण की एक अप्रत्यक्ष या परोक्ष विधि भी होती है जिसमें किसी चरित्र पर प्रकाश चरित्र की स्वयं की भाषा के द्वारा पड़ता है। यहाँ पर कुछेक उदाहरणों द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है।

'आधा गाँव' डॉ. राही मासुम रजा का उपन्यास है। उसमें स्वाधीनता के बाद जमींदारी प्रथा के टूटने से भारतीय ग्रामीण जीवन में जो बदलाव आया है उसको चित्रित किया गया है। उसमें फुन्नन मियाँ नामक एक मुसलमान जमींदार के पात्र का चित्रण मिलता है। फुन्नन मियाँ बड़ा ही नेक और दिलेरदिल इन्सान है। वह लोगों को उनके मुँह पर खरी-खरी बात सुना देता है। इस फुन्नन मियाँ और उनके छिकुरिया को धोके से मारा जाता हैं। वे दोनों बारिखपुर के ठाकुरों के यहाँ से जश्न मना कर आ रहे थे कि अचानक उन पर लाठियाँ बरसने लगी। उस समय फुन्नन मियाँ के मुँह से बड़ी हिकारत के साथ निकलता है- "हट जनखे ! इतबड़ी नामर्दी की बात है, टोक के मारा त मरद जाने।"[28] यहाँ पर फुन्नन मियाँ द्वारा कहे गये इन दो-तीन वाक्यों से ही उनके चरित्र की व्याख्या हो जाती है। फुन्नन मियाँ किसी को भी खरी और सच्ची बात कहने से चूकते नहीं है। रहमत जुलाहा का लड़का बरकत जो अलीगढ़ में पढ़ता है। हुसैन अलीमियाँ की लड़की कामीला से इश्क फरमाता है। हुसैन अलीमियाँ जो सैयदजादे है उनको यह बात नागवार गुजरती है तब फुन्नन मियाँ हुसैन अली मियाँ को बिलकुल सही तरह से समझाते है - जब जमीदारी तब तूं कौनो जोरजबरदस्ती न किये रह्यो। का ई हमें ना मालूम कि तूं रहमतवा की बहन से फंसे रह्यो? तू जमींदार न रहे होत्यो, त का ओ तारी बहिनिया की इज्ज़त न ले

लेता। कल तोरा बखत रहा, आज वरकतवा का बखत है।''[29] फुन्नन मियाँ के उपर्युक्त कथन से उनके चरित्र की निखालसता और साफगोई का पता चलता है।

'रागदरबारी' श्रीलाल शुक्ल का एक व्यंग्यात्मक उपन्यास है। उसमें लेखक ने वैदजी नामक एक शातीर और मोटी चमड़ी के राजनीतिक नेता का चित्रण किया है। अतः वैदजी द्वारा जो भाषा प्रत्युक्त हुई है वह उनके राजनीतिक चरित्र के अनुरूप है। एक उदाहरण दृष्टव्य है - ''हमारी युनियन में गबन नहीं हुआ था। इस कारण लोग हमें सन्देह की दृष्टि से देखते थे। अब तो हम कह सकते है कि हम सच्चे आदमी है। गबन हुआ है और हमने छिपाया नहीं है। जैसा है, वैसा हमने बता दिया है।''[30] वैदजी के इस कथन को सुनकर हमें डॉ. पी.वी. नरसिंहाराव केबिनेट के वित्त मन्त्री मनमोहन सिंह का एक स्टेटमेन्ट याद आ रहा है जो उन्होंने हर्षद मेहता काण्ड के समय दिया था। उनका वक्तव्य था - घोटाला हुआ है और हमने उसे छिपाया नहीं है।

इसी उपन्यास में प्रिन्सीपल साहब अपने विरोधी खन्ना मास्टर को कैसे चूप कर देते है यह वाक्या सुनाते है। इस सन्दर्भ में वैदजी कहते है - ''ऐसा न करना चाहिए। विरोधी से भी सम्मानपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। देखो न, प्रत्येक बड़े नेता का एक-एक विरोधी है। सभी ने स्वेच्छा से अपना-अपना विरोधी पकड़ रखा है। यह जनतन्त्र का सिद्धान्त है। हमारे नेतागण कितनी शालीनता से विरोधियों को झेल रहे हैं। विरोधी गण अपनी बात बकते रहते हैं और नेतागण चुपचाप अपनी चाल चलते रहते हैं। कोई किसी से प्रभावित नहीं होता यही आदर्श विरोध है। आपको भी यही रुख अपनाना चाहिए।''[31]

उपर्युक्त कथन में जो भाषा प्रयुक्त हुई है उससे वैदजी के चरित्र की एक रेखा उभरकर प्रत्यक्ष होती है।

इसी उपन्यास में शनीचर नामक एक चापलूस चमचे का भी चरित्र आया है। एक बार जब कुछ डकैतों के द्वारा वह धर लिया जाता है तब जाते-जाते वह डकैतों से कहता है - ''बापू तुम लोगों ने हमारी जान छोड़ दी, यह ठीक ही किया है। माल ले लिया तो ले लिया उसकी फिकिर नहीं। हम भी तुमको बता दे कि तुम नमक-से-नमक खा रहे हो। तुम हो सरकार के तो हम भी है दरबार के।''[32]

उपर्युक्त कथन से शनीचर का चरित्र उद्घाटित होता है। शनीचर कितना चालाक, धूर्त, चापलूस और वाचाल है, वह उसकी भाषा से ज्ञापित होता है।

डॉ. भगवतीशरण मिश्र के उपन्यास 'नदी नही मुड़ती' में प्रोफेसर सागर का चरित्र आता है। एक स्थान पर वे उपन्यास की नायिका सुषमा से कुछ धर्म विषयक

चर्चा करते हैं। यथा- "मैं कहाँ कहता हूँ कि कोई धर्म को तिलांजलि दे मंदिरों में माला जपे। चाहे वह पुरानी पीढ़ी हो या नई पीढ़ी, जब तक धर्म और कर्म दोनों के समन्वय में वह सफल नहीं होगी प्रगति के द्वार बंद ही रहेंगे। जीवन रूपी रथ के धर्म और कर्म दो चक्र है। दोनों में एक के बिना भी यह गाड़ी चल नहीं सकती। सुरथ राजा की कहानी यही सन्देश देती है। महाभारत युद्ध का परिणाम भी इसी शाश्वत सत्य को उद्घाटित करता है। कौरवों ने क्या कुछ कम कर्म किया? कम बड़ी थी उनकी सेना? कम पराक्रमी थे उनके योद्धा? पर एक ही चीज तो नहीं थी उनके पास-धर्म । और वही धर्म तो निर्णायक बना उस भीषण संग्राम का? 'यतो धर्मस्ततो जयः' यह आर्ष वाक्य सिद्ध हो गया कि नहीं उस युद्ध से?"[33]

प्रो. सागर के उपर्युक्त कथन में जो भाषा प्रयुक्त हुई है, उससे ज्ञात होता है कि वे एक बहुश्रुत, मेधावी, पण्डित और आस्थावान व्यक्ति है। उनके कथन में जो सुरथ राजा का उल्लेख हुआ है उससे ज्ञापित होता है वे दुर्गा सप्तशती का भी पाठ करते होंगे या उसे उन्होंने पढा होगा।

इतिहास में प्रसिद्ध है कि छत्रपत शिवाजी के चरित्र निर्माण में समर्थ गुरु रामदास का योगदान नगण्य नहीं था। एक स्थान पर समर्थ गुरु रामदास शिवाजी को बताते हैं कि धर्मयुद्ध ही सच्चा युद्ध है और यह बताते हुए वे शिवाजी के कुछ संशयों का समाधान प्रस्तुत करते हैं - "गीता में ब्रह्म ने एक जगह कहा है कि योग और सन्यास में अन्तर बालबुद्धि वाले देखते हैं पण्डित नहीं। इसी तरह मैं कहुँगा कि कर्म और भाग्य में कोई अन्तर है नहीं। दोनों के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं। दोनों एक ही है। अन्तर इतना है कि कार्य है दुसरा कारण एक मूल है दुसरा शीर्ष। एक बीज है दुसरा वृक्ष।........ कर्म ही भाग्य बनाता है। कर्म का भाग्य से विरोध नहीं, वह भाग्य का विधायक है।....... कर्म करते जाओ, भाग्य स्वयं तुम्हारे पीछे दौड़ता आएगा।"[34]

यहाँ समर्थ गुरु रामदास की भाषा उनके चरित्र एवं व्यक्तित्व के अनुरूप है, बल्कि यों कहना चाहिए इस प्रकार की भाषा के कारण ही उनके चरित्र की यथार्थतः सृष्टि हुई है।

(ग) किसी अन्य पात्र द्वारा प्रयुक्त भाषा

उपन्यास में किसी पात्र के चरित्र पर प्रकाश उसकी अपनी भाषा से तो पड़ता ही है किन्तु उसकी एक दूसरी नाटकीय विधि भी है। जिसमें किसी चरित्र का चित्रण उपन्यास के अन्य पात्रों के कथन से होता है। कुछेक उदाहरणों द्वारा हम इसे

स्पष्ट करेंगे। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'रेखा' में दिल्ली युनिवर्सिटी के प्रोफेसर प्रभाशंकर बीस वर्षीय अनींद्य सुन्दरी रेखा भारद्वाज से शादी कर के उसे रेखा शंकर बना देते हैं। डॉ. प्रभाशंकर लड़कियों को पटाने में उस्ताद माने जाते थे। जब वे इलाहाबाद विश्व विद्यालय में रीडर थे तो उन्होंने देवकी नामक एक विवाहित स्त्री को फँसाया था। देवकी का पति नितान्त व्यक्तित्व-हीन आदमी था। वह इलाहाबाद के एक स्कूल में हेड़ मास्टर के पद का प्रत्याशी था। डॉ. प्रभाशंकर उस सिलेक्शन कमेटी में थे। उन्होंने देवकी के पति को हेड़ मास्टर बना दिया और देवकी को अपनी रक्षिता कई वर्षों तक देवकी का नशा उन पर छाया रहा किन्तु बाद में वे दिल्ली चले गए। इन प्रोफेसर प्रभाशंकर के सन्दर्भ में देवकी एक स्थान पर कहती है - "शिकार का तो शौक इन्हें हैं, लेकिन शेर, चीते आदि जंगली जानवरों के शिकार का शौक नहीं है। ये शहर के आसपास उड़नेवाली चीड़ियों का ही शिकार करते हैं और उनमें उनका निशाना अचूक होता है।"[35] उपर्युक्त कथन में देवकी के द्वारा प्रभाशंकर के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है।

उषा प्रियंवदा के उपन्यास 'रुकोगी नहीं राधिका?' की राधिका अपने पिता को मानसिक आघात देने के लिए विदेशी पत्रकार डैन के साथ भाग जाती है। राधिका और डैन का दाम्पत्य जीवन भी स्थिर और सफल नहीं रहता है। क्योंकि राधिका का डैन के प्रति जो आकर्षण था वह स्वाभाविक न होकर एक प्रतिक्रिया के रुप में था। पहले राधिका अपने पिता को एक आदर्श पुरुष मानती थी परन्तु उसके पिता जब विद्या नामक एक अपनी सहयोगी प्राध्यापिका से विवाह कर लेते हैं तो राधिका में Electra complex का निर्माण होता है। जिसके कारण उसके तमाम कार्य-कलाप पिता को आघात देने हेतु ही होते हैं। उपन्यास में डैन राधिका के चरित्र पर प्रकाश डालते हुए कहता है - "तुमने कभी, एक क्षण के लिए भी प्यार नहीं किया। राधिका, तुम मुझ में अपना पिता ढूँढ रही थी। पर मैंने तुम्हारे पिता की जगह स्थापित नहीं होना चाहा, मैं तो स्वतंत्र व्यक्ति हूँ। और मैं तुम में अपना खोया यौवन ढूँढ रहा था। अपनी पत्नी को छोड़कर चले जाने की कड़वाहट धोना चाहता था पर शायद हम दोनों ही सफल नहीं हुए।"[36] उपर्युक्त कथन में डैन ने राधिका के चरित्र का विश्लेषण किया है। राधिका और उसका दाम्पत्य जीवन क्यों स्थिर नहीं हो पाया उसके कारणों पर प्रकाश डाला है।

मोहन राकेश द्वारा प्रणीत 'अँधेरे बन्द कमरे' आधुनिक भाव-बोध से सम्पन्न एक बहुचर्चित उपन्यास है। प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने हरबंस और नीलिमा के टूटते-लहराते दाम्पत्य सम्बन्धों को रेखांकित किया है। हरबंस नीलिमा के आधुनिक

स्वतंत्र व्यक्तित्व से मुग्ध होकर उससे प्रेम-विवाह करता है। विवाह के बाद हरबंस नीलिमा को Ultra modern बनाने के चक्कर में उसे पार्टियों और काफी हाउसों में ले जाता है। पेइन्टींग और नृत्य की ओर भी प्रेरित करता है। परन्तु जब नीलिमा अपनी प्रतिभा के बल पर आगे बढ़ने लगती है तो हरबंस के पुरुष अहम को ठेस पहुँचती है और नीलिमा के किसी भी क्षेत्र में सफल होने के मौके पर वह कतराकर भाग खड़ा होता है। हरबंस की यह जो ग्रन्थि है उसके सन्दर्भ में नीलिमा एक स्थान पर कहती है - ''तुम सिर्फ इस हीन भावना के शिकारहो कि लोग मुझे तुमसे ज्यादा जानते हैं और उनमें जो बात होती है वह तुम्हारे विषय में न होकर मेरे विषय में होती है। तुम्हें यह बात खा जाती है कि लोग तुम्हारी चर्चा नीलिमा के पति के रूप में करते हैं। तुम्हें डर लगता है कि अगर मेरा प्रदर्शन सफल हुआ तो लोग मुझे और ज्यादा जानने लगेंगे और तुम अपने को और छोटा महसूस करोगे।''[37] उक्त कथन में नीलिमा हरवंस के चरित्र का विश्लेषण करती है। हरबंस में जो लघुताग्रंथी है उसका वो विश्लेषण करती है।

'जयवर्धन' जैनेन्द्रजी का एक प्रयोगधर्मी उपन्यास है। प्रस्तुत उपन्यास में एक विदेशी पत्रकार एवं राजनीतिज्ञ मिस्टर हूस्टन की डायरी के कुछ प्रश्नों के रूप में उपन्यास को प्रस्तुत किया गया है। जयवर्धन उपन्यास के मुख्य चरित्र है - जय और इला। उसमें जय को राष्ट्राधीप बताया गया है। इला जय की प्रेयसी है। इला का चरित्र बहुत ही गरिमामय बताया गया है। इस उपन्यास में ऐसे अनेक स्थान है जहाँ मिस्टर हूस्टन के कथनों द्वारा इला के व्यक्तित्व और चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। एक उदाहरण दृष्टव्य है - जिसमें मिस्टर हूस्टन उपन्यास के एक अन्य नारी पात्र लिज़ा के साथ तुलना करते हुए कहते हैं - ''मैंने इला को देखा। अपनी कैसी घनिष्ट कथाएँ मुझे सुनाने तक यह नारी आ गई है। पर वह सब होने के बाद भी कही असमंजस नहीं है, प्रभावशालिता और शालीनता में कही त्रुटि नहीं। देखकर लगभग उसी समय की कल की एलिजाबेथ का ध्यान आया। बहुत ही विलक्षण प्रतीत हुआ। निश्चय ही सामने बैठी नारी में नारीत्व किसी ओर से कम न था, पर वह तनिक भी मुझ पुरुष में उद्वेग का कारण न बना। प्रत्युत् एक समाहित शूचिता एक सन्तोष का अनुभव हुआ। व्यक्तित्व के चारों ओर एक सौन्दर्य का परिमण्डल था पर उससे भाव की भव्यता ही मिली। मन में चंचलता नहीं पैदा हुई।''[38]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि उपन्यास में पात्रों के चरित्र-चित्रण में नाटकीय विधि के अन्तर्गत कई बार दूसरे पात्रों के कथनों द्वारा भी किसी पात्र विशेष के चारित्रिक गुणों पर प्रकाश पड़ता है।

उपन्यास में निरूपित जीवनदर्शन और भाषा

उपन्यास में विचार और उद्देश्य या जीवन दर्शन के तत्व का अपरिहार्य महत्व है। विचार उदेश्य या जीवनदर्शन के अभाव में कोई भी उपन्यास उच्च कोटि का या स्तरीय उपन्यास नहीं हो सकता। ऐसे उपन्यासों को आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'घासलेटी उपन्यास' कहा है।[39] यह युग विचारों और बुद्धिवादिता का युग है। विश्व के महान सर्जको ने अपनी विचारधारा को व्यक्त करने के लिए इस साहित्यिक विधा को अंगीकृत किया है। यह विचारधारा या जीवनदृष्टि हमें न केवल किसी उपन्यास में आद्यन्त मिलती है, अपितु एक ही उपन्यासकार के अनेक उपन्यासों में उसका क्रमशः विकास या पल्लवन स्पष्टरूपेण मिलता है। बालजाक, एमिलजोला, टॉल्सटोय, दोस्तोवोस्की, फ्लोबर्ट, विक्टर ह्यूगो प्रभृति विश्व के महान उपन्यासकार तथा प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, वि.स. खाण्डेकर, फकीर मोहन सेनापति, बंकिम, शरदबाबू, टेगोर, पन्नालाल पटेल आदि भारतीय उपन्यासकारों के उपन्यासों में हमे उनका एक निश्चित जीवनदर्शन प्राप्त होता है। उपन्यास के इसी तत्व के कारण ही आदर्शवाद, यथार्थवाद, प्रकृतिवाद अस्तित्ववाद, आधुनिकतावाद तथा उत्तराधुनिकतावाद जैसी औपन्यासिक प्रवृत्तियों का जन्म हुआ है। किसी भी साहित्यिक स्तर के उच्च प्रकार के उपन्यास में उसके प्रत्येक प्रकरण, प्रत्येक पृष्ठ और प्रत्येक वाक्य से उसके रचनाकार की जीवनदृष्टि की गूँज अनुगूँज सुनायी पड़ती है। इस सन्दर्भ में अंग्रेजी आलोचक स्टीवेन्सन्स ने लिखा है - ìFrom all its chapters, from all its pages, from all its sentenes the wellwritten Novel echoes and rechoes its One creative and controlling thought.î[40]

यहाँ एक और तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ठ होना चाहिए कि उपन्यास में उपन्यासकार की निजी दृष्टि का तो महत्व है ही, परन्तु केवल इतने मात्र से कोई उपन्यास श्रेष्ठ नहीं हो जाता। वह दृष्टि भी उत्कृष्ठ कोटि की होनी चाहिए। विचारधारा तो 'स्वतन्त्र रमा परतन्त्र लक्ष्मी' (मेहता लज्जाराम शर्मा) तथा 'घेरे के बाहर' (द्वारिकाप्रसाद मिश्र) जैसे उपन्यासों में भी है, परन्तु वह विचारधारा मानवता को आगे बढ़ानेवाली, विवेक पूर्ण और न्यायी नहीं है। अतः उन उपन्यासों को श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। इस सन्दर्भ में डॉ. पारुकांत देसाई का अभिमत है कि - ''केवल नये शिल्प एवं टेकनीक से ही कोई भी साहित्यिक कृति श्रेष्ठ या महान नहीं हो जाती, प्रत्युत् उसकी श्रेष्ठता विषय वस्तु में अन्तर्निहित स्रष्टा की दृष्टि की श्रेष्ठता पर ही निर्भर है।''[41]

जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासों में यह लेखकीय चिन्तन पुष्कल प्रमाण मे मिलता है। उपन्यास के अतिरिक्त भी उन्होंने अनेक चिन्तन प्रधान ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें उन्होंने समाज के कई प्रश्नों की चर्चा की है। स्त्री, पुरुष, समाज, प्रेम, विवाह, प्रेमिका जैसे विषयों पर उनका मौलिक चिन्तन वहाँ उपलब्ध होता है। वस्तुतः जैनेन्द्र एक मनोविश्लेषक और चिन्तक उपन्यासकार है। उपर जो प्रत्येक प्रकरण एवं प्रत्येक पृष्ठ से (From every chapter and from every page) लेखक के चिन्तन के प्रस्फुटित होने की बात कही गई है, वह शत प्रतिशत जैनेन्द्र पर लागू होती है। इस सन्दर्भ में दो-एक उदाहरण दृष्टव्य है।

'त्यागपत्र' जैनेन्द्र का एक चिन्तन प्रधान उपन्यास है। मानवीय संवेदना की इतनी गहराई एवं मार्मिकता अन्यत्र दुर्लभ है। इस उपन्यास में कहा गया है - ''सचमुच जो शास्त्र से नहीं मिलता वह ज्ञान आत्म-व्यथा में से मिल जाता है।''[42] त्यागपत्र का यह वाक्य उपन्यास के केन्द्रवर्ती चिन्तन को रेखांकित करता है। लेखक ने अन्यत्र इसी उपन्यास में एक स्थान पर लिखा है - ''मानव चलता जाता है और बूंद-बूंद दर्द इकठ्ठा होकर उसके भीतर भरता जाता है। वही सार है। वही जमा हुआ दर्द मानव की मानसमणि है, उसके प्रकाश में मानव का गतिपथ उज्ज्वल होगा।''[43] इसी तरह 'विवर्त' उपन्यास में जैनेन्द्रजी ने लिखा है - ''हम समझते हैं यह दुनिया है और हम आजाद है, पर यह समझना खुद सवाल है........ हल यह है कि यह जेल है और हम कैदी है। जेल भगवान की और कैदी हम भगवान के हैं।''[44]

उपर्युक्त उदाहरणों से यह देखा जा सकता है कि चिन्तन प्रधानता के कारण भाषा सुसंस्कृत, संयत और गम्भीर बन पड़ी है। जहाँ चिन्तन होगा वहाँ भाषा का एक उच्च एवं गम्भीर स्तर रहेगा ही।

निर्मल वर्मा द्वारा प्रणीत 'वे दिन' उपन्यास भी एक चिन्तन प्रधान उपन्यास है। प्रस्तुत उपन्यास में एक स्थान पर लेखक कहते है - ''जिन लोगों के सामने दूसरा रास्ता खुला रहता है, वे शायद ज्यादा सुखी नहीं हो पाते।''[45] इसी उपन्यास में युद्ध के सन्दर्भ में कुछ पंक्तियाँ कही गई है - लेकिन कुछ चीजे हैं जो लड़ाई के बाद मर जाती है - शान्ति के दिनों में....... हम उनमें से एक थे........ वे लोग घरेलू जिन्दगी में खप नहीं पाते........ मैं किसी काबिल नहीं रह गई हूँ....... Not even for Love peace killed it.[46] यहाँ लेखक ने युद्ध के बाद के विनाश और विषाद को रेखांकित किया है। चिन्तन के कारण भाषा का एक विशिष्ट स्तर मिलता है।

हमारे आलोच्य लेखक भगवतीशरण मिश्र के उपन्यासों में भी चिन्तन पक्ष पर्याप्त प्रबल रूप में मिलता है। कई बार घनीभूत भाव या विचार सूक्ति का रुप धारण कर लेता है। डॉ. मिश्र के उपन्यासों में ऐसे अनेको चिन्तन कणिकाएँ उपलब्ध होती है। दो-तीन उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं - (1) '' उम्र की लम्बाई कोई चीज नहीं होती महत्व होता है उस आत्मा का जो उम्र की बड़ाई छोटाई की मुँहताज नहीं होती, उस संस्कार का जो काँटे में खिलते गुलाब की तरह कहीं भी खिल सकता है।''[47] यहाँ पर लेखक ने उम्र या अवस्था को महत्व न देते हुए आत्मा की गहराई, गरिमा और ऊँचाई को महत्व दिया है।

(2) ''किसी ने कहा है कि कोई गुण तुम्हारे पास है तो तुम्हें कहीं जाने की आवश्यकता नहीं। संसार के इतने लोग तुम्हारे दरवाजे पर पहुँचना आरम्भ करेंगे के तुम्हारे दरवाजे तक स्वयं एक सड़क खींच आयेगी।''[48] प्रस्तुत सूक्ति में लेखक ने स्पष्ट किया है कि गुणवान व्यक्ति को लोगो के पास जाने की आवश्यकता नहीं है बल्कि लोग खींचे चले आते हैं उनके गुणों के चुंबकीयत्व से।

(3) ''स्वाभिमान का सर्प बड़ा विषैला होता है। जब तक उस पर चोट न करो वह आपका कुछ नहीं बिगाड़ता, पर जहाँ किसी के आत्माभिमान रुपी भुजङ्ग पर गलती से भी आपका पैर पड़ गया तो वह पलटकर ऐसा डसता है कि न पूछिए।''[49] यहाँ पर लेखक ने प्रकारान्तर से किसी भी व्यक्ति के स्वाभिमान को ठेस न पहुँचाने का उपदेश दिया है। किसी भी भाषा के साहित्य का ëWisdomí उसमें अभिव्यक्त सूक्तियों में झलकता है। उपन्यास केवल कथा नहीं है। वस्तुतः उपन्यास का मूल्यवान कोश तो उसमें अभिव्यक्त चिन्तन और विचार है। हमारे यहाँ काव्य या साहित्य के जिन अनेकानेक प्रयोजनों की चर्चा हुई है। उनमें एक प्रयोजन है - व्यवहारविदे अर्थात् व्यवहार को जानने समझने के लिए। उपन्यास में कथा के माध्यम से लेखक बातों बातों में जीवन की, व्यवहार की कई गहरी बातों को कह जाता है और तब उसकी भाषा भी अपने चिन्तन पक्ष के अनुरुप गम्भीर, गरिमायुक्त, संयत, शालीन और संगतिपूर्ण प्रतीत होती है।

उपन्यास में भाषा की बहुस्तरीयता

जैसा कि पहले निर्दिष्ट किया गया है उपन्यास की भाषा में अनेक स्तरीयता पायी जाती है। एक तो उपन्यास में लेखक की भाषा होती है, दूसरे उसमें पात्रों की भाषा का भी समावेश होता है। कई लेखकों की भाषा कमोबेश रूप से एकरूपता

लिए हुए रहती है। जैसे जैनेन्द्र, अज्ञेय, निर्मल वर्मा आदि। प्रायः जहाँ नगरीय परिवेश और सुशिक्षित अभिजात वर्गीय पात्र होते हैं वहाँ भाषागत एकरूपता दृष्टिगोचर होती है।

उपन्यास में वर्णित लेखक की भाषा के स्तर भी वस्तु, औपन्यासिक रूप आदि की दृष्टि से परिवर्तित होती रहती है। कई बार एक ही लेखक में भाषा के विभिन्न स्तर पाये जाते हैं। शैलेश मटियानी के उपन्यासों में 'होलदार', 'मुख सरोवर के हंस', 'कबूतर खाना', 'आकाश कितना अनन्त है', तथा 'बर्फ गिर चुकने के बाद' जैसे उपन्यासों में हमें लेखक की भाषा के अलग-अलग स्तर मिलते हैं। औपन्यासिक रूपों के अनुसार भी लेखक की भाषा में बदलाव आता है। डॉ. भगवतीशरण मिश्र के उपन्यासों को ही ले तो उनके 'एक और अहल्या' तथा 'नदी नहीं मुड़ती' जैसे सामाजिक उपन्यासों की भाषा 'पहला सूरज' तथा 'पीताम्बरा' जैसे ऐतिहासिक उपन्यासों की भाषा तथा 'प्रथम पुरुष' , 'पुरुषोत्तम' एवं 'पवनपुत्र' आदि पौराणिक उपन्यासों की भाषा में भाषागत विभिन्नता को लक्षित किया जा सकता है।

लेखकीय भाषा में भी वर्णन, विश्लेषण, चिन्तन प्रभृति की दृष्टि से भाषा के स्तर में परिवर्तन दिखाई पड़ता है। वर्णन में भी प्रकृति-वर्णन की भाषा और परिवेशगत वर्णन की भाषा में अन्तर दिखाई पड़ सकता है।

उपन्यास में भाषागत विभिन्नता पात्रों के कारण भी आती है। औपन्यासिक लेखक की सफलता, असफलता का निकष यह हो सकता है कि लेखक अपने परिवेश और जमीन से कितना जुड़ा हुआ है। यहाँ देश, काल, जाति, वर्ग, कौम, लिंग आदि के आधार पर भाषागत वैभिन्नय दृष्टिगत किया जा सकता है। अलग-अलग प्रदेशों और गाँवों की भाषा में भी विभिन्नता पायी जातीहै। एक गाँव की भाषा दूसरे गाँव की भाषा से कई बार अलग पड़ती है। उदाहरणतया - बड़ौदा जिले के वाघोड़िया तालुके के वंशणिया नामक गाँव में स्त्री-पुरुषों के नामों के पीछे 'होन' शब्द लगता है। यह शब्द सम्मान और आदर का सूचक है, जैसे-मोहन होन, चंचड़ होन, सोन्ती होन आदि।

अलग-अलग कालों के हिसाब से भी पात्रों की भाषा बदलती है। गुप्त युग के पात्रों की भाषा और आज के युग के पात्रों की भाषा असंदिग्धतया एक विशेष प्रकार का अन्तर मिलेगा। ठीक उसी प्रकार अलग-अलग जातियों से सम्बद्ध पात्रों की भाषा में भी भिन्नता उपलब्ध होगी। ब्राह्मणों की भाषा, पटेलों की भाषा, बनियों की भाषा, चमारों की भाषा में जातिगत आधार पर भिन्नता दृष्टिगत होती है। रेणु के

'मैला आँचल' उपन्यास मैं मेरीगंज गाँव के अलग-अलग टोलों की भाषा को उनके वास्तविक रुप में निरुपित करने में लेखक सफल हुआ है।

जाति की भाँति वर्ग के अनुसार भी भाषा के स्तर में विविधता दृष्टिगोचर होगी। उच्च, मध्य और निम्न वर्ग के उपरांत व्यावसायिक वर्ग जैसे डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, प्राध्यापक आदि वर्ग के पात्रों की भाषा में विविधता के दर्शन होंगे। जाति और वर्ग की तरह नाना कौम के लोगों की भाषा में भी एक निश्चित अन्तर मिलता है। मुसलमानों की भाषा, हिन्दुओं की भाषा इसाईयों की भाषा तथा पारसियों की भाषा में असंदिग्ध रुप से भाषागत अन्तर दृष्टिगोचर होगा।

लिंग के हिसाब से भी पात्रों की भाषा में अन्तर आ जाता है - स्त्रियों की भाषा, पुरुषों की भाषा यहाँ तक कि उनकी गालियों में भी विभिन्नता मिलती है। यहाँ भी अवस्था के अनुसार भाषा के अलग-अलग स्तर मिलेंगे। अर्थात् बच्ची की भाषा का एक स्तर होगा किशोरी या युवती की भाषा का दूसरा स्तर होगा और प्रौढ़ा तथा वृद्धाओं की भाषा का एक तीसरा स्तर होगा।

डॉ. भगवतीशरण मिश्र : जीवन-यात्रा

प्रस्तुत अध्ययन का विषय है - डॉ. भगवती शरण मिश्र के उपन्यासों की भाषा एक अनुशीलन। किसी भी लेखक की भाषा का जब अध्ययन किया जाता है, तो उसमें उस लेखक के जीवन का अध्ययन भी अपेक्षित रहता है, क्योंकि लेखक की भाषा में उसके जीवनानुभवों के संस्कार कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी रुप में विद्यमान रहते हैं। लेखक की भाषा पर विचार करते समय उनके शैशवकालीन अनुभव, शिक्षा, माता-पिता, परिवार, व्यवसाय, जीवन संघर्ष प्रभृति आयामों को लक्षित करना पड़ता है। अतः कहा जा सकता है कि किसी भी लेखक की कृतित्व की भाषा का परीक्षण एवं मूल्यांकन करने के लिए उसके वैयक्तिक जीवन को जानना-समझना परम आवश्यक हो जाता है। अतः यहाँ बहुत संक्षेप में मिश्रजी के जीवन पर दृष्टिपात करने का प्रयास किया गया है।

डॉ. भगवतीशरण मिश्र - जन्म तथा शैशव

लगभग तीन-चार दशकों से साहित्य-साधना में डूबे हुए इस सारस्वत पुत्र का जन्म 27 मार्च सन् 1936 को बिहार राज्य के शाहाबाद जिले के बेनसागर गाँव में एक सम्भ्रान्त कृषक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बेनसागर पटणा सासाराम रोड़ पर

स्थित खूटहा गाँव से लगभग डेढ़ किलोमीटर दूर पूर्व में है। इस गाँव की पूर्व दिशा में काव नदी बह रही है जो कैमूर की पहाडियों से प्रस्फुटित हुई है। उसके पश्चिमी छोर पर सोण केनाल की एक प्रमुख नहर है। काव नदी के उस पार कभी प्रगाढ़ वन-प्रदेश था जो अब लोगों की स्मृति में ही रह गया है। अभिप्राय यह कि बालक भगवती के शिशु मन का पल्लवन हुआ वह स्थान प्राकृतिक दृष्टि से अत्यन्त रमणीय था। नदी, निर्झर, जंगल, तरुराशि और जलराशि से परिपूर्ण नैनाभिराम प्राकृतिक वातावरण ने बालक भगवती के ऋजु मन को एक विशिष्ट प्रकार के सौन्दर्य बोध से भर दिया था। यही कारण है कि भगवती बाबू में प्रकृति के प्रति प्रगाढ़ प्रेम मिलता है। 'लक्ष्मण-रेखा' नामक उपन्यास तो उन्होंने प्रकृति और पर्यावरण की रक्षा हेतु ही लिखा है। कदाचित् इस विषय पर लिखा गया हिन्दी का यह प्रथम उपन्यास है। प्रकृति के पालने में झोलने के कारण बालक भगवती में अल्प वय से ही काव्य संस्कार फूटने लगे थे। सोलह-सत्रह वर्ष की आयु में ही उन्होंने कविता लिखने का श्री गणेश कर दिया था। यह प्राय: देखा गया है कि जब कोई भी व्यक्ति साहित्य-साधना में प्रवृत्त होता है तो उसका प्रारम्भ कविता से ही होता है। किशोर भगवती बाबू ने भी अपनी 'पृथ्वी व्यथा' नामक कविता में अपनी उस पीड़ा को उकेरा है कि नन्दनवन जैसा यह हरा भरा शस्य श्यामल देश किस प्रकार शनैः शनैः बन्जर होता जा रहा है। अपनी व्यथा को उन्होंने निम्नलिखित पंक्तियों में अभिव्यक्ति प्रदान की है-

> "मानव उल्लु बन बैठा है
> हे पेड़-पेड़ कटता जाता
> तन शीशे सा पिगला जाता।"[50]

वस्तुत: वृक्षों को कटते जाने की पीड़ा का अनुभव वही कर सकता है जिसका बचपन प्रकृति की गोद में बीता हो। इस सन्दर्भ में मेरे मनोमस्तिष्क में डॉ. साहब का एक शैर कौंध रहा है-

> "खुशबों की चूक जाने की
> न लेश आशंका हमें
> ये पेड़ कटते जाएँगे
> मिट्टी का क्षरण होंगा।"[51]

अत: देखा गया है कि काव नदी तथा उसके आसपास के जंगलों से डॉ. मिश्र का रागात्मक सम्बन्ध रहा है। अपनी बाल्यावस्था में उन्होंने इस नदी के जल में खूब विहार किया है। कागज की नावों को कांव नदी के जल में थिरकने के लिए छोड़ना

और फिर उन्हें हिलते- डूलते देखने का आनन्द उनका बाल मन ले चुका है। कुछ बड़े होकर अपनी मित्र-मण्डली के साथ वे वहाँ जाते थे और देर-देर तक उसके विस्तृत बालुका पट पर खेलते-कूदते और चहलकदमी करते रहते थे। वर्षा के उपरान्त शरदऋतु में शान्त गम्भीर रुप से बहती हुई विपुल सलिला काव में वे अपनी मित्र-मण्डली के साथ नौका विहार का आनन्द भी अनेक बार ले चुके हैं। डॉ. मिश्र के उपन्यासों में प्रकृति के जो अनेक रम्य चित्र मिलते हैं उसमें उनकी इस शैशवकालीन स्मृतियों का बड़ा योग है। उनके उपन्यासों में उनका यह प्रकृति प्रेम किसी न किसी रूप में झलकता रहता है।

बेनसागर गाँव की पूर्व दिशा में काली माई का मन्दिर, तथा पश्चिम दिशा में गणेशजी और शिवजी के मन्दिर है। ये मन्दिर प्राचीन एवं भव्य है। डॉ. मिश्र अपनी शिशु अवस्था में नियमित रुप से इन मन्दिरों में दर्शन के लिए जाते थे। अतः प्रकृति प्रेम और भक्ति-भाव शैशव-अवस्था से ही उनसे जुड़े हुए थे। वहाँ जाकर उन्हें एक अपूर्व सौन्दर्य-लोक का अनुभव होता था। उनका शिशु मन भक्ति-भावना में डूब जाता था। भक्ति के इन संस्कारों के सिंचन में उनके माता-पिता तथा उनके दादा-दादी का भी योगदान नगण्य नहीं था। अतः कहा जा सकता है कि डॉ. मिश्र को ये संस्कार विरासत में मिले थे।

डॉ. भगवती शरण मिश्र के पिताश्री गजानन मिश्र संस्कृत और हिन्दी के विद्वान थे और वहाँ की हाई स्कूल में इन्हीं विषयों को पढ़ाते थे। वे स्वभाव से अनुशासन प्रिय थे और किसी प्रकार की बदतमीजी उनकी बर्दाश्त की बाहर थी। वे भारतीय संस्कृति के भी अनन्य उपासक थे और गीता के 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' श्लोक के कायल थे। वे सच्चे अथो में ब्राह्मण थे और उनके हृदय में समग्र जगत के कल्याण की भावना निहित थी। सभी प्राणियों में वे ब्रह्म के दर्शन करते थे। इस प्रकार सच्चे अर्थों में वे वेदान्ती थे। उनका आस्तिक मन संस्कृत भाषा को वेद वाणी मानता था। संस्कृत के वे प्रकाण्ड पण्डित थे और उसके माध्यम से उन्होंने प्राचीन शास्त्रों का तल-स्पर्शी अध्ययन किया था। संस्कृत के नदीष्ण विद्वान होने के बावजूद अपनी विनम्रता में वे कहते थे - ''मेरा ज्ञान विद्वानों का ओच्छिष्ट प्रसाद मात्र है।''[52] वे एक रागद्वेष हीन कर्तव्यनिष्ठ और वैराग्य सम्पन्न गृहस्थ थे। अपने बड़ो के प्रति जहाँ उनके मन में श्रद्धा, आदर, सम्मान और विनम्रता के भाव मिलते थे वहाँ छोटों के प्रति वे अत्यन्त सख्त थे। यह शक्ति उनकी अनुशासनप्रियता के कारण थी। वे स्वयं अनुशासन का पालन करते थे और चाहते थे कि दूसरे भी वैसा करे। 'सादा जीवन उच्च विचार' उनके जीवन का महामन्त्र था। बालक भगवती की सभी उपयुक्त

आवश्यकताओं की पूर्ति वे कर देते थे, परन्तु उनकी अनावश्यक और अवांछित जिद वे कभी पूरी नहीं करते थे। इसका एक परिणाम यह हुआ कि बालक भगवती शुरु से ही दत्तचित्त होकर पढ़ने में लगे रहे और शैशव काल से ही अनुशासन, सादगी और संयम की आदत उनको पड़ गयी। पिता की यह सख्ती और कठोरता उस समय तो उनको खलती थी परन्तु अब वे इस बात का भली भाँति अनुभव करते हैं कि यह सख्ती के पीछे भी उनका अतीव स्नेह ही था। झूठे लाड़-प्यार कई बार बच्चों को बिगाड़ देते हैं और ऐसा लाड़-प्यार करनेवाले माता-पिता को हितैषी नहीं शत्रु समझना चाहिए।

डॉ. भगवती शरण मिश्र की माताजी भी परम भगवद भक्त थी । एक पति परायण सीधी-सादी भारतीय गृहस्थ नारी हम कह सकते हैं। पति परायणता, कर्तव्य परायणता एवं भक्ति-भावना का त्रिवेणी संगम उनके चरित्र में हमें दृष्टिगोचर होता है। अपने पुत्र के प्रति उनके मन में अतीव प्रेम था। किसी भी बच्चे के सुचारु विकास के लिए माता का प्रेम एवं उसके संस्कारों का महत्व अपरिहार्य है। मनो विज्ञान का कहना है कि जिन बच्चों को शैशवावस्था में माता-पिता या अभिभावकों का भरपूर प्रेम मिला हो उन बच्चों का मानसिक विकास पूर्ण स्वस्थता के साथ होता है। और आगे चलकर अपने गार्हस्थ्य जीवन में भी अपने बच्चों तथा छोटों को खूब प्रेम देते हैं। प्रेम भी वही दे सकता है जिसने प्रेम को पाया हो। यहाँ गुणाकार होता है भागाकर नहीं। गज़ल के एक शेर में कहा गया है - "बढ़ेगा प्यार-प्यार से तयशुदा यह बात है।"[53] हमारे आलोच्य लेखक डॉ. भगवतीशरण मिश्र इस विषय में बड़े भाग्यशाली है कि उनको संस्कारी एवं प्रेम वत्सल माता-पिता एवं पितामह की विरासत प्राप्त थी।

माता-पिता की भाँति, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया गया है डॉ. मिश्र को अपने पितामह की भी संस्कार सम्पन्न विरासत मिली थी। डॉ. मिश्र के पितामह पण्डित यदुनंदन मिश्र संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनकी आध्यात्मिक साधना बड़ी विरल और गहरी थी। आध्यात्मिक साधना के द्वारा उन्होंने कुछ सिद्धियों को प्राप्त किया था जिसके कारण उनके पास अनेक भक्त-भाविक और शिष्यों का ताँता लगा रहता था। पण्डितजी उनकी लौकिक और पारलौकिक समस्याओं का समाधान करने की भरपूर चेष्टा करते थे। यह सब एक निःस्वार्थ लोकसेवा के भाव से वे करते थे। इसके लिए वे किसी से भेंट या दक्षिणा नहीं ग्रहण करते थे। उनके इन गुणों के कारण लोगों में सिद्धजी के नाम से जाने जाते थे। उनका अधिकांश समय त्रिकाल संध्या और भगवद् भक्ति में ही व्यतीत होता था। अतः हम कह सकते है कि डॉ.

मिश्र में जो धर्म, साहित्य दर्शन तथा सदाचारी जीवन के प्रति निष्ठा आदि के भाव मिलते हैं उसमें पितामह के द्वारा प्राप्त ये संस्कार भी कारणभूत है।[54]

पुरानी समाज व्यवस्था में, विशेषतः संयुक्त परिवार में,बच्चों को माता-पिता की अपेक्षा दादा-दादी या नाना-नानी का प्रेम अधिक मिलता है। अब तो परिवार की व्याख्या ही अत्यन्त सीमित हो गयी है। वस्तुतः पुरानी समाज व्यवस्था में मान-मार्यादा विषयक भावना तथा संयुक्त परिवार केउत्तरदायित्वों के वहन में माँ-बाप की अत्यधिक व्यस्तता के कारण बच्चे प्रायः घर के दूसरे सदस्यों के द्वारा ही पलते थे, और विशेषतः उन्हें दादा-दादी या नाना-नानी का भरपूर प्यार मिलता था। वे लोग न बच्चों को पालते थे प्रत्युत् उनमें संस्कारों का सिंचन भी करते थे। संसार के सुदीर्घ अनुभव से पकी हुई उनकी मेधा बच्चों को जीने के तौर-तरीके सीखाते थे। बाल सुलभ मनोरंजक धार्मिक कहानियों से उनके मानस को पोषित करते थे। दर हकीकत हम इस भौतिकवादी उपभोक्ता संस्कृति में शनैः शनैः प्यार की कमी का जो एहसास कर रहे हैं उसके पीछे यही सब कारण हैं। नगरीय एवं औद्योगिक आपाधापी के कारण परिवार विभक्त हुआ और आधुनिक माँ-बापों के पास बच्चों को पढ़ाने-लिखाने के पैसे तो है परन्तु उनके पास समय नहीं है। शैशव अवस्था में जो बच्चों को भरपूर प्यार मिलना चाहिए वह नहीं मिल पाता। प्रेम की यह कमी उन्हें स्वार्थी और स्वकेन्द्री (Self Centred) बना देती है। परन्तु इस मामले में हमारे आलोच्य लेखक बहुत ही भाग्यशाली रहे हैं। उनको अपने पितामह तथा मातामही का भरपूर प्यार मिला है। यह पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि मिश्रजी के पिता तथा पितामह दोनों धार्मिक प्रकृति के गृहस्थ थे। पलतः बालक भगवती को धर्म, भक्ति और नैतिकता के संस्कार घुट्टी में मिले थे।

शिक्षा-दीक्षा

माता-पिता तथा दादा-दादी की स्नेहिल ममता पूर्ण छाया में बालक भगवती की प्रारंभिक शिक्षा बेनसागर गाँव की प्राथमिक पाठशाला में हुई उस समय उनकी अवस्था पाँच वर्ष की थी। कक्षा चार के उपरान्त आठ वर्ष की अवस्था में उनका दाखिला पास के संझोली गाँव के राजाराम वैद्य स्कूल में करवाया गया। यह स्कूल बेनसागर से दो मिल की दूरी पर था। अतः प्रकृति के सुरम्य वातावरण में उनकी प्रारंभिक शिक्षा सम्पन्न हुई ऐसा हम कह सकते हैं। उन दिनों कक्षा सात की एक परीक्षा केन्द्रीय बोर्ड द्वारा ली जाती थी और ये परीक्षा काफी कठिन होती थी। उन

दिनों जो छात्र इस परीक्षा को उत्तीर्ण कर देते थे उन्हें प्रायः प्राथमिक शिक्षक या सरकारी दफ्तर में मुन्शी की नौकरी मिल जाती थी। यहाँ एक तथ्य ध्यातव्य रहे कि गुजरात में इस परीक्षा को वर्नाक्युलर फाइनल की परीक्षा, संक्षेप में व.फा.की परीक्षा कहते थे और इसे उत्तीर्ण करने वाले छात्रों को सम्मानपूर्वक देखा जाता था। संक्षेप में जो स्थिति सम्प्रति मेट्रिक्युलेशन या ग्रेज्युएशन की है तकरीबन वही स्थिति उस समय उस परीक्षा की थी। भगवतीबाबू बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि के मेधावी छात्र थे अतः यह परीक्षा उन्होंने विशेष योग्यता (Distinction)के साथ उत्तीर्ण की। तत्पश्चात् वे संझोली ग्राम के ही के.के. हाईस्कूल में प्रविष्ट हुए उस समय उनकी अवस्था लगभग बारह तेरह वर्ष की थी। हाईस्कूल की पढ़ाई के साथ ही साथ मिश्रजी संस्कृत का भी बराबर अध्ययन करते रहे इसमें इनके पिता की प्रेरणा ने भी बड़ा कार्य किया। मिश्रजी के पिता पण्डित श्री गजानन मिश्र हिन्दी तथा संस्कृत के शिक्षक थे। परन्तु संस्कृत के प्रति उनका विशेष पक्षपात था। वे प्रायः कहा करते थे कि संस्कृत अमर वाणी है, संस्कृत देव वाणी है, वह एक अद्वितीय भाषा है। फलतः परंपरा गत अकादमीक शिक्षा के उपरान्त, उसके समानान्तर उनकी संस्कृत की शिक्षा-दीक्षा भी बराबर चलती रही इस हेतु इतवार के दिन संझोली स्थित संस्कृत विद्यालय में नियमित रुप से जाते थे। इतवार छुट्टी के दिन वे संस्कृत की कक्षाओं में जाते थे । सन् 1959 में उन्होंने संस्कृत की मध्यमा परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की थी। इस प्रकार हिन्दी, अंग्रेजी तथा संस्कृत इन तीनों भाषाओं का उनका गहन गंभीर अध्ययन चलता रहा। इसका भरपूर प्रयोग उन्होंने बाद में अपने लेखन में किया। संस्कृत, अंग्रेजी तथा भारतीय शास्त्रों तथा पुराणों में जो श्रेष्ठतम है वह उन में छनकर आया है। सन् 1953 में उन्होंने प्रवेशिका परीक्षा प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण की। इसके उपरान्त सन् 1955 में हिन्दी, गणित, अर्थशास्त्र आदि विषयों के साथ आइ.ए. की परीक्षा सासाराम कॉलेज से उच्च द्वितीय श्रेणी से उत्तीर्ण की। इसके पश्चात् एच.डी.जैन कॉलेज आरा से गणित और अर्थशास्त्र विषय लेकर वे स्नातक हुए। इस परीक्षा में (बी.ए.आनर्स) वे विश्वविद्यालय में आठवें स्थान पर तथा अपने आरा कॉलेज में प्रथम स्थान पर आये थे। आरा कॉलेज बिहार विश्वविद्यालय के अंतर्गत आता है। मिश्रजी का रुझान शुरु से ही हिन्दी साहित्य की ओर था, अतः बी.ए. में वे गणित के साथ हिन्दी साहित्य लेना चाहते थे। परन्तु पिताजी के तीव्र विरोध के कारण उनको गणित एवं अर्थशास्त्र के साथ बी.ए. करना पड़ा। इस सन्दर्भ में उन्होंने स्वयं लिखा है - ''बाबा से लिखने-पढ़ने के प्रति प्रोत्साहन मिल रहा था, पिताजी मेरे लेखन से काफी चिढ़ते थे। बी.ए. में आनर्स स्तर पर जब मैंने हिन्दी रखनी चाही

तो पिताजी ने तीव्र विरोध किया और धमकी दी कि हिन्दी पढ़ोगे तो पढ़ाई खर्च देना बंद कर दूँगा। विवश होकर अंततः मैंने विषय बदलकर अर्थशास्त्र और गणित रख दिया। वास्तव में पिताजी चाहते थे कि मैं रोजी-रोटी के लिहाज में अच्छी शिक्षा अर्जित करु इसलिए वे हमेशा मुझे साहित्यकार बनने से रोकते रहें।''[55]

वस्तुतः मिश्रजी पिता के विरोध के कारण ही हिन्दी साहित्य की ओर अधिक अभिमुख हुए। उनके अपने घर में दो विरोधी स्थितियाँ थी - पितामह हिन्दी साहित्य के हिमायती थे और पिता विरोधी। मिश्रजी के पिता साहित्य सृजनादि को फालतू और बैठे ठालों का काम समझते थे क्योंकि हमारे देश में साहित्य से किसी का पेट नहीं भरता। यह तो सभी जानते हैं कि प्रेमचन्द जैसे बड़े लेखक को भी आजीवन संघर्ष करना पड़ा था। हिन्दी में लेखन के बलबूते पर आजीविका को चलाना कठिनतम कार्य है। रोजी रोटी की व्यवस्था करके यदि कोई लिखता है तो वह और बात है। बल्कि कई बार तो ऐसा भी होता है कि लोग अपनी नौकरी की कमाई को भी साहित्य में फूँक देते हैं। अतः साहित्य की सेवा जैसे घरफूकु काम को पण्डित गजानन जैसा व्यावहारिक गृहस्थ सत्यनाशी और प्रतिभानाशी कार्य समझे तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

हिन्दी के साहित्यकार की दयनीय स्थिति की ओर इशारा करते हुए हिन्दी के जानेमाने कथाकार राजेन्द्र यादव कहते है कि ''बंगला-मराठी-मलयालम में देखिए किस तरह किताबें हाथों हाथ बिकती हैं, वहाँ लेखक का कितना सम्मान हैं, यहाँ साली हिन्दी में खुद लिखो खुद छपाओ या खुद प्रकाशक को ढूँढो फिर रायल्टी के लिए उसके सामने गिड़गिड़ाओ या नोटिसबाजी करो........ उधर मारखेज है, जिनके नये उपन्यास का दसहजारी संस्करण दो दिनों में बिक जाता है। हमारे बड़े से बड़े लेखक को वह सम्मान प्राप्त नहीं है जो देश-विदेश की छोटी से छोटी भाषाओं के लेखकों को सहज ही मिला हुआ है। लानत है इन पचास करोड़ हिन्दी भाषीओं पर........ इतनी बड़ी जन संख्या में तो हमारा पहला संस्करण ही दस लाख का होना चाहिए।''[56] यह तो एक सर्वविदित तथ्य है कि प्रेमचन्दजी जैसे बड़े लेखक को भी अपनी आर्थिक स्थिति को लेकर आजीवन संघर्ष करना पड़ा था। हिन्दी में साहित्यिक लेखन के बलबूते पर रोजी-रोटी कमाना लोहे के चने चबाने के समान है। अतः मिश्र जी के पिता यदि चाहते थे कि बेटा पहले रोजी-रोटी का जुगाड़ कर ले तो उसमें अस्वाभाविक कुछ नहीं था।

सन् 1959 में मिश्रजी ने पटणा विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र जैसे विषय को लेकर एम.ए. किया। एम.ए. में वे अच्छी पोजीशन से उत्तीर्ण हुए थे। विश्व विद्यालय

में उनका स्थान तीसरा था। एम.ए. का परीक्षा फल घोषित करने से पूर्व ही सन् 1959 में अर्थशास्त्र के व्याख्याता के रुप में उनकी नियुक्ति आर.एस. मोरे कॉलेज गोविन्दपुर में हो गयी थी। परीक्षाफल की घोषणा के उपरान्त सन् 1960 में एच.डी.जैन कॉलेज आरा में वे अर्थशास्त्र के व्याख्याता के रुप में नियुक्त हुए। तदुपरांत सन् 1962 में बिहार लोकसेवा आयोग द्वारा उनका चयन हुआ और रांची विश्व विद्यालय के रांची कॉलेज में अर्थशास्त्र के व्याख्याता के रुप में उनकी नियुक्ति हुई। सन् 1963 में बिहार लोकसेवा आयोग की सिविल सर्विस में उनका चयन हुआ। तब से लेकर अब तक वे भारत सरकार की विभिन्न सेवाओं में संलग्नित है। अपने इन प्रशासनिक कार्यों के साथ-साथ सन् 1971 में उन्होंने ëMunicipal Taxation in a Developing Economyí जैसे अर्थशास्त्र के विषय पर पी.एच.डी. उपाधि के लिए शोधकार्य किया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मिश्रजी का छात्र जीवन अत्यन्त सफल, तेजस्वी और ज्वलन्त रहा।

प्रशासनिक सेवा

जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया गया है कि डॉ. भगवतीशरण मिश्र सन् 1963 से सरकार की प्रशासनिक सेवा में है। आइ.ए.एस. का प्रशिक्षण समाप्त होते ही उनको दरभंगा जिले लदनिया प्रखण्ड के विकास पदाधिकारी के रुप में नियुक्त किया गया। जनवरी 1968 से जून 1969 तक उन्होंने दरभंगा नगरपालिका के कार्यपालक पदाधिकारी के पद पर कार्य किया। उसके पश्चात् जुलाई 1969 से लेके अप्रैल 1972 तक वे मुझफ्फरपुर नगर पालिका के विशेष पदाधिकारी के पद पर कार्य करते रहे। तदुपरांत सन् 1972 के मई के मार्च 1973 तक वे पाटलिपुत्र मेडिकल कॉलेज के कार्यपालक पदाधिकारी रहे। संक्षेप में डॉ. मिश्र की प्रशासनिक सेवाएँ इस प्रकार हैंः-

(1) अप्रैल 1973 - जनवरी 1975 : बिहार सरकार में उद्योग विभाग के सहायक निर्देशक।

(2) 1975 : निर्देशक हिन्दी ग्रन्थ अकादमीक पटणा।

(3) अप्रैल 1977 - मार्च 1978 : दरभंगा के सदर अनुमण्डलाधिकारी।

(4) मार्च 1978 : ए.डी.एम. प्रोन्नति (Promotion) पंचायती राज्य के अंतर्गत दरभंगा प्रमण्डल के क्षेत्रीय उपनिदेशक।

(5) जुलाई 1979 - मार्च 1981 : बिहार राज्य वयस्क शिक्षा साधन संस्थान (दीपायतन) के निदेशक।

(6) अप्रैल 1981 : भारत सरकार के रेल मन्त्रालय में राजभाषा विभाग के संयुक्त निदेशक।

(7) जुलाई 1983 : संघ लोकसेवा आयोग द्वारा रेल मन्त्रालय में राजभाषा निदेशक के रुप में चयन (राजनीतिक हस्तक्षेप के कारण इस पद पर उनकी नियुक्ति नहीं हो सकी यह कदाचित पहला अवसर था जिसमें मिश्रजी को असफलता का मुँह देखना पड़ा। अन्यथा सिविल सर्विस में उनकी उन्नति का ग्राफ निरन्तर ऊँचाईयों को स्पर्श करता रहा है।)

(8) अक्टूबर सन् 1985 : बिहार सरकार राजभाषा विभाग में निदेशक। तब से लेकर अब तक वे बिहार सरकार में विभिन्न उच्चस्थ पदों को शोभित कर चुके हैं। सम्प्रति वे बिहार सरकार की सेवा से निवृत्त हो चुके हैं। इसके पूर्व वे पटणा में अपरसचिव (Additional Secretary) के पद पर कार्य कर रहे थे।[57]

उपर्युक्त सूची से यह भली भाँति प्रमाणित हो जाता है कि डॉ. भगवतीशरण मिश्र बिहार सरकार तथा केन्द्र सरकार के अनेकानेक उच्चस्थ पदों पर अपनी प्रशासनिक सेवा का आलोक प्रसारित करते रहे हैं। प्रशासनिक सेवा में रहते हुए भी ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, कला, इतिहास, पुराण, संस्कृति प्रभृति क्षेत्रों में उनकी विशेष रुचि एवं गति रही है। सत्ता, प्रभुता और प्रतिष्ठा के पदों पर रहते हुए भी वे जल कमलवत रह सके हैं। और प्रशासक के कठोर, शुष्क और किसी हद तक बोरीयत से भरे हुए कार्यों के बीच भी उनके भीतर की संवेदना का स्रोत सूखा नहीं है, बल्कि उनकी सृजनशीलता का संसार निरंतर वृद्धिमान हो रहा है। प्रशासनिक सेवाओं में आने से पहले, ऐसे कई व्यक्ति होते हैं जिनमें साहित्य, कला, संस्कृति के प्रति एक विशेष लगाव होता है, परन्तु प्रशासनिक सेवा के झमेलों में वे इस कदर डूब जाते है कि उनके उन संस्कारों की भ्रूण हत्या हो जाती है। उनकी सर्जना का कोश बिलकुल रिक्त हो जाता है परन्तु यहाँ ऐसा नहीं हुआ है। इसे भी एक चमत्कार ही समझना चाहिए। यह भी एक सुखद संयोग है कि सुशिक्षित एवं सुपठित होने के बावजूद मिश्रजी चमत्कारों के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। इस विषय पर भी उन्होंने प्रचुर मात्रा में साहित्य लिखा है। अतः उनके इस चमत्कारपूर्ण बहुआयामी कर्मठ व्यक्तित्व पर हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

प्रारंभिक साहित्यिक संस्कार

यह पहले रेखांकित किया जा चुका है कि डॉ. भगवतीशरण मिश्र के पिता की तुलना में उनके पितामह में अपेक्षाकृत साहित्यिक संस्कारों की प्रगाढ़ता पायी जाती है। मिश्रजी के पितामह पण्डित यदुनंदन मिश्र हिन्दी साहित्य की तत्कालीन गतिविधियों में पर्याप्त रस लेते थें और 'सन्मार्ग', 'विश्वमित्र', 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं के नियमित ग्राहक थे। इस प्रकार बालक भगवती के ऋजु कोमल मन में साहित्यिक बीजों को अंकुरित करने का श्रेय उनके पितामह को जाता है। इन पत्रिकाओं के कारण घर का वातावरण साहित्यिक रहता था। यह बहुत संभव है कि जाने अनजाने बालक भगवती इन पत्रिकाओं के हजार पृष्ठ उलट-पुलट गये होंगे। सत्रह अठ्ठारह वर्ष की आयु तक में मिश्रजी तब तक के श्रेष्ठ हिन्दी साहित्य को करीब-करीब पढ़ गये थे। जब वे नवीं कक्षा में पढ़ते थे तब प्रसादजी के 'कामायनी' महाकाव्य को पढ़ चुके थें। स्कूल के पुस्तकालय से साहित्य की पुस्तकों को लाकर पढ़ना उनका एक नित्यक्रम बन गया था। उन दिनों में उपेन्द्रनाथ अश्क, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल आदि उनके प्रिय लेखक थे।[58]

डॉ. भगवतीशरण मिश्र के पिताजी श्री गजानन मिश्र हिन्दी साहित्य को नापसन्द करते थे, इतना ही नहीं वे नहीं चाहते थें कि बालक भगवती का मन हिन्दी साहित्य की ओर उन्मुख हो। इसके विपरीत उनके पितामह यदुनंदन मिश्र उन्हें हिन्दी साहित्य की ओर अग्रसरित कर रहे थे। इस सन्दर्भ में स्वयं भगवती शरण मिश्र का कथन है - ''मुझे बचपन से ही बाबा (पितामह) की वजह से साहित्य का परिवेश मिला। मेरे बाबा संस्कृत के विद्वान तो थे ही, हिन्दी के भी बड़े भारी पण्डित थे। तब घर में काफी पत्र-पत्रिकाएँ आती थी, जिन्हें मैं बड़े चाव से पढ़ता था। जब मैं सातवी कक्षा में पढ़ता था, तभी मैंने एक मोटा-सा उपन्यास लिख डाला था, जिसे देखकर मेरे पिताजी काफी क्रोधित हुए और उसे नष्ट कर दिया। वे नहीं चाहते थे कि मैं लेखक बनूं। वस्तुतः पिताजी के इन विरोध के कारण ही मेरे भीतर लेखक बनने की आकांक्षा पनपी। तब घर में दो विरोधी स्थितियाँ थी। बाबा से लिखने पढ़ने के प्रति प्रोत्साहन मिल रहा था, तो पिताजी मेरे लेखन से काफी चिढ़ते थे।''[59]

पिता के विरोध के कारण मिश्रजी ने रोजी-रोटी के लिए तो गणित एवं अर्थशास्त्र पढ़ा और उसमें एम.ए. तथा पी.एच.डी. भी किया। दूसरी तरफ केरियर की दृष्टि से उन्होंने आइ.ए.एस. कर लिया। आइ.ए.एस. कर लेने से उनका चयन सिविल सर्विस के लिए हो गया। उसके तहत बिहार सरकार तथा भारत सरकार के उच्चातिउच्च पदों पर वे रह चुके हैं जिनको पूर्ववर्ती पृष्ठों में परिलक्षित किया है।

आजीविका का एक ठोस आधार तो हो ही गया था। अतः सिविल सर्विस के साथ साथ मिश्रजी ने अपने साहित्यिक संस्कारों को जीवित रखा और उस दिशा में अभूतपूर्व कार्यशीलता दिखलाई।

यह एक मनोनैज्ञानिक तथ्य है कि जिस बात का सर्वाधिक विरोध होता है, मानव-मन उसकी ही ओर अधिक प्रेरित होता है। दूसरे, यह भी एक वास्तविकता है कि बच्चों का मन पिता से अधिक पितामह की ओर झुकता है। यह पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि मिश्रजी के पितामह हिन्दी साहित्य के प्रेमी थे और उनको यह पसन्द भी था कि बालक भगवती में साहित्यिक संस्कारों का सिंचन हो। पितामह के प्रभाव के कारण बालक भगवती में साहित्यकार होने की भावना शैशव काल से ही अंकुरित हो रही थी। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है ''साहित्यकार बनने की ललक मेरे मन में बचपन से ही थी। सत्य कहना ही उचित होगा भले ही वह बचकाना लगे। अक्सर छोटी बातों से ही बड़ी बाते जन्म लेती है। पत्र पत्रिकाओं में छपे अथवा पुस्तक के मुखपृष्ठ पर छपे लेखकों के नाम से और फोटो से ही मेरे अन्दर प्रेरणा जगी और मैं चाहता रहा कि एक दिन मैं भी बड़ा लेखक बनुँगा।''[60]

इस प्रकार साहित्यकार बनने की अदम्य लालसा मिश्रजी में शैशव काल से ही थी। यद्यपि उन्होंने सन् 1953 से लिखना प्रारम्भ किया था किन्तु विधिवत् व्यवस्थित रुप से तथा नियमित लेखन तो सन् 1957 से आरम्भ होता है। अधिकांश लेखकों की भाँति उनका साहित्यिक सृजन भी कविता से ही शुरु होता है। बाद में वे कहानी विधा की ओर अग्रसरित हुए। भगवती बाबू की प्रथम कहानी देवधर नाम से प्रकाशित होनेवाली प्रकाश नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। कहानी का शीर्षक था 'ज्वारभाटा'। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मिश्रजी 'प्रकाश' के माध्यम से प्रकाश में आये। तदुपरांत उनकी कहानियाँ 'मनोरमा' तथा 'निहारिका' नामक पत्रिकाओं में नियमित रुप से प्रकाशित होने लगी। सन् 1964 तक आते-आते भगवतीशरण मिश्र की गणना समसामयिक कथाकारों में होने लगी। तत्कालिन साहित्यिक गतिविधियों के सन्दर्भ में डॉ. शिवनारायण मिश्र कहते है - ''वह काल कहानियों को लेकर बड़ा प्रेरणादायी था। बिहार और उसके बाहर भी तब साहित्य की कई अच्छी पत्रिकाएँ निकलती थी, जिनसे कथा-लेखन को काफी प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा था। तब बिहार से नागार्जुन, फणीश्वरनाथ रेणु, राजकमल चौधरी आदि कथाक्षेत्र में सक्रिय लेखकों में थे, जिन्हें राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त हुई थी। इन नामों के अतिरिक्त तब अखिल भारतीय स्तर पर बिहार से अधिक लेखक नहीं थे। मधुकर सिंह आदि बिहार में ही सक्रिय थे। उन्हीं दिनों भगवतीशरण मिश्र एक कथाकार के रुप में उभर रहे थे।''[61]

लेखक : डॉ. भगवतीशरण मिश्र

उपर्युक्त विवेचन में हम देख चुके हैं कि डॉ. भगवतीशरण मिश्र अपनी प्रशासनिक सेवाओं के साथ-साथ एक लेखक के रुप में भी अपना स्थान बना रहे थे। प्राय: देखा गया है कि कोई लेखक किसी एक रचना के पश्चात् चूक जाता है और बाद की रचनाओं में स्वयं को दुहराता है परन्तु डॉ. मिश्र को हम एक सतत विकसनशील एवं सक्रिय लेखक मान सकते हैं। इसके मुख्य रुप से दो कारण हैं - एक तो साहित्य जगत में प्रवर्तमान वादग्रस्तता के वातावरण से वे काफी मुक्त हैं। वे शाश्वत पारंपरिक अग्रगामी चिन्तन को लेकर आगे बढ़ रहे हैं, फलतः उनके लेखन में हमें प्रसाद और प्रेमचन्द जैसा एक क्रमिक विकास दृष्टिगोचर होता है। दूसरे वे साहित्येतर क्षेत्र से आये हैं। अत: उनके पास विषयों की कमी नहीं है। अच्छे पाठक और अ़ध्येता होने के कारण वे निरन्तर नवीन विषयों के अनुसंधान में संलग्नित रहते हैं।

डॉ. भगवतीशरण मिश्र एक बहुमुखी प्रतिभा वाले लेखक हैं। उन्होंने कविताएँ, कहानियाँ,उपन्यास, निबन्ध, लघुकथाएँ, बालसाहित्य, व्यंग्य आदि विधाओं को लेकर लगभग दो दर्गण से अधिक पुस्तकों का प्रणयन किया है। 'नदी नही मुड़ती', 'सूरज के आने तक', 'एकला चलो रे', 'एक और अहल्या', 'लक्ष्मण-रेखा' आदि उनके सामाजिक उपन्यास है। 'पीताम्बरा', 'पहला सूरज', 'पितृपक्ष', 'देख कबीरा रोया', 'का के लागूं पांव', 'गोबिन्द गाथा', 'शान्तिदूत' आदि उनके ऐतिहासिक उपन्यास हैं तो 'प्रथम पुरुष', 'पुरुषोत्तम' और 'पवनपुत्र' अनेक पौराणिक उपन्यास हैं। बंधक आत्माएँ उनका एक चमत्कारपूर्ण उपन्यास है। हिन्दी की समूची ऐतिहासिक परम्परा जहाँ साधु-सन्तों तथा मन्दिरों और आश्रमों को लेकर, केवल उसके नकारात्मक पक्ष को लेकर चले है, वहाँ डॉ. मिश्र में इसे लेकर सकारात्मक भाव दृष्टिगत होता है। बंधक आत्माएँ में उन्होंने अध्यात्म जगत में होनेवाले चमत्कारों का अनुभवजनित वर्णन किया है। लक्ष्मणरेखा उपन्यास में उन्होंने साम्प्रत जगत की एक विकट समस्या - पर्यावरण की समस्या - को वर्तमान समय की अनेक आंदोलनों की पृष्ठभूमि में समाकलित किया है।

डॉ. मिश्र एक अच्छे कहानीकार भी है। 'चूकने का दर्द', 'मुर्ख बन्जारा', 'दुष्ट कुमार', 'एहसासों की एक शाम', 'जिलाधिश की वापसी', 'शापित लोग', 'राह के पत्थर', 'उचाइयों का ईश्वर', 'सोनार-धारा' आदि उनके कहानी संग्रह हैं। उपन्यासों की भाँति कहानियों में भी विषय वैविध्य और वर्णन वैविध्य के दर्शन होते हैं। कहानियों के अतिरिक्त उन्होंने पर्याप्त मात्रा में लघुकथा का प्रणयन भी किया है। 'यदा यदा हि धर्मस्य' उनका एक प्रसिद्ध निबन्ध संग्रह है।

हमारे बहुत से स्थापित लेखक बाल साहित्य की रचना से कतराते हैं। उनमें कदाचित् यह भ्रान्त धारणा है कि बाल साहित्य के सृजन से उनकी गणना कहीं बाल-लेखक या छोटे लेखक न हो जाए। किन्तु डॉ. मिश्र इस ग्रन्थी के शिकार नहीं है उन्होंने प्रचुर मात्रा में बाल साहित्य का सृजन भी किया है। और इस प्रकार अपने लेखकीय दायित्व का पूर्णरूपेण निर्वाह किया है।

साठोत्तरी हिन्दी साहित्य में सामाजिक राजनीतिक मोह भंग तथा तज्जन्य विडम्बनाओं और विसंगतियों के कारण व्यंग्यात्मक साहित्य पुष्कल परिमाण में उपलब्ध होता है। डॉ. मिश्र भी इस दिशा में गतिशील है। विश्व विद्यालयों में चलनेवाली राजनीति को लेकर 'सब चलता है' नामक एक व्यंग्यात्मक उपन्यास वे लगभग पूरा कर चुके हैं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उनके व्यंग्य लेख यदा-कदा प्रकाशित रहते हैं। अंग्रेजी में भी उनकी 'In Defence of Nonsenseí, ëMuniciple Taxation in a Developing Economyí (Ph.D. Thesis), ëThe Gita : All Riddles Resolved' आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं।

विकसनशील एवं सक्रिय लेखक

साहित्य जगत में कई बार देखा गया है कि साहित्य का सृजन करते करते कोई एक लेखक चूक जाता है, अर्थात् उसने पहले जो लिखा है, उससे श्रेष्ठ रचना वह नहीं दे पाता है, बल्कि कई बार पूर्ववर्ती रचनाओं से उसकी परवर्ती रचनाएं कमजोर सिद्ध होती है, या कई बार उसके लेखन में दोहराव पाया जाता है। यह तो एक सर्वविदित तथ्य है कि फणीश्वरनाथ रेणु, मोहन राकेश तथा श्री लाल शुक्ल जैसे लेखक अपने परवर्ती लेखन में क्रमश: 'मैला आँचल', 'अंधेरे बंद कमरे' तथा 'राग दरबारी' जैसी रचनाएँ नहीं दे पाएँ। परन्तु डॉ. भगवतीशरण मिश्र शायद इस लेखकीय त्रासदी से बच सके हैं। इसके दो कारण है - एक तो हिन्दी के वादग्रस्त साहित्यिक वातावरण से वे अलिप्त रहे हैं। वे तात्कालिक वादों या विचार प्रवाहों से अलग रहकर अपनी स्वतन्त्र दृष्टि के अनुसार साहित्य लेखन करते रहे हैं। वे तात्कालिकता की अपेक्षा शाश्वत पारम्परिक अग्रगामी चिन्तन को लेकर आगे बढ़े हैं। अत: उनके लेखन में हमे प्रसाद और प्रेमचन्द जैसा एक क्रमिक विकास मिलता है। साहित्य के ये दोनों महारथी क्रमश: श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर साहित्यिक कृतियों का प्रदान करते रहे हैं। 'कामायनी' और 'गोदान' उनकी क्रमश: श्रेष्ठतम रचनाएँ है। हमारे आलोच्य लेखक में भी हमे ऐसा क्रमिक विकास मिलता है। मिश्रजी की प्रारंभिक दौर की साहित्यिक रचनाओं की अपेक्षा उनके परवर्ती लेखन की रचनाएँ कलात्मक दृष्टि

से अधिक प्रौढ़ एवं गंभीर है। मिश्रजी के लेखन में यह जो क्रमिक विकास मिलता है, और दोहराव की प्रवृत्ति जो उनमें नहीं मिलती है उसका दूसरा कारण यह है कि वे साहित्येतर क्षेत्र से आये हैं, अतः उनके पास नए-नए विषयों की कमी नहीं है। साहित्य, इतिहास, पुराण और शास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, पर्यावरण जैसे विषयों का गहन अध्ययन वे निरन्तर करते रहे हैं। उन्होंने पर्यावरण की समस्या को लेकर 'लक्ष्मण-रेखा' नामक उपन्यास लिखा है। सिक्खों के दसवें गुरु-गुरु गोविन्दसिंह को लेकर डॉ. मिश्र ने दो उपन्यासों का प्रणयन किया है। 'का के लागूं पांव' और 'गोबिन्द गाथा'। वस्तुतः 'का के लागू पांव' गुरु गोविन्द सिंह के साथ-साथ गुरु तेगबहादुर की कथा भी है। प्रस्तुत उपन्यास में गुरु गोविन्द सिंह के जन्म से लेकर गुरु तेगबहादुर की शहादत की कथा को लिया गया है। 'गोबिन्द गाथा' में गुरु गोविन्द सिंह के शौर्यपूर्ण पराक्रमी जीवन कवन को चित्रित किया गया है। डॉ. अमृत लाल नागरने भक्तिकाल के दो महा कवि गोस्वामी तुलसीदास एवं पुष्टिमार्ग के जहाज समझे जाने वाले महा कवि सूरदास पर क्रमशः 'मानस का हंस' और 'खंजन-नयन' नामक उपन्यासों का प्रणयन किया है। ठीक उसी प्रकार मिश्रजीने निर्गुण भक्ति शाखा के मस्तमौला कवि कबीर पर 'देख कबीरा रोया' नामक उपन्यास की रचना की है। उनकी योजना तो यह है कि कुरान और बाइबल जैसे महान ग्रन्थों के कुछ पात्रों को लेकर उपन्यास लिखे जाएँ। अभिप्राय यह कि मिश्रजी बहुपठित व्यक्ति है। उनकी प्रतिभा भी बहुमुखी है। अतः लीक से हटकर अलग-अलग नावीन्यसभर विषयों पर वे निरन्तर अपनी लेखनी चलाते रहे हैं।

डॉ. शिवनारायण ने मिश्रजी के साहित्य का अवगाहन करते हुए लिखा है - "संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी तथा बंगला भाषा के विद्वान डॉ. भगवतीशरण मिश्र की बहुआयामी सृजनात्मक प्रतिभा ने आधुनिक हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं को समृद्ध किया है......... पारम्परिक लेखन में भी अग्रगामी चिन्तन को स्थान मिल सकता है, ऐसा पाटीबन्द लेखक नहीं मानते। अग्रगामी चिन्तन मौलिकता में होता है और यह मौलिकता अपनी परम्परा से कटकर कुछ नहीं होती, यानी परम्परा से कटकर अग्रगामी चिन्तन सकारात्मक नहीं हो सकता। यह संभव ही नहीं है। इस परिपेक्ष्य में डॉ. मिश्र के उपन्यासों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके साहित्य में अग्रगामी चिन्तन की सार्थकता जितनी अपनी परम्परा से जुड़ने में है, उतनी ही रूढियों पर जबरदस्त प्रहार करने में भी। डॉ. मिश्र ने ऐतिहासिक, पौराणिक या धार्मिक पात्रों पर बृहत्‌काय उपन्यास लिखे हैं, पर मानवीय मूल्यों को नए सिरे से स्थापित करने के प्रयास में उन्होंने उन पात्रों को भी सर्वथा आधुनिक

सन्दर्भों में चित्रित किया है, जिसकी प्रासंगिकता आज भी सर्वथा आधुनिक हुई है, और यही शाश्वत लेखन की मांग भी है। डॉ. मिश्र के इधर के सभी उपन्यासों में अग्रगामी सोच अर्थात् प्रगतिशीलता के तत्व कूट-कूट कर भरे हुए हैं, जो जीवन एवं समाज को नई दिशा देते हैं।''[62]

लेखक की भाषा विषयक अवधारणा

डॉ. भगवतीशरण मिश्र की औपन्यासिक कृतियों की विशेषता है उनकी विलक्षण भाषा। सैंकडों-हजारों पंक्तियों के मध्य से भी डॉ. मिश्र की पंक्ति को पहचान लेना उनके पाठक के लिए सरल और सहज साध्य है। जिस प्रकार जयशंकर प्रसाद की भाषा में संस्कृत बहुलता मिलती है ठीक उसी प्रकार डॉ. मिश्र की भाषा भी संस्कृत बहुला भाषा है। अपने सामाजिक उपन्यासों में भी उन्होंने अनेकानेक संस्कृत-तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है परन्तु 'प्रथम पुरुष', 'पुरुषोत्तम' तथा 'पवनपुत्र' जैसे उपन्यासों में तो संस्कृत भाषा के ही संस्कार सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। अपने भाषा विषयक आदर्श का प्रकारान्तर से उल्लेख लेखक ने 'देख कबीरा रोया' नामक उपन्यास में 'अथ कबीर उवाच' में किया है। इसमें कबीर की ओर से कहलवाया है - ''इसने (लेखक ने) आपकी दृष्टि में एक अपराध शायद किया हो । भाषा के प्रति अपने पूर्वाग्रह से यह अपने को मुक्त नहीं कर पाया। कहीं-कहीं मुझसे उर्दू-फारसी के अल्फाज़ भी बुलवाए हैं, पर प्रमुखता इसने अपनी तत्सम शब्दावली को ही दी है। मेरे मुख से अनेक बार संस्कृत के कठिनतम शब्दों को भी उगलवाया है।........ फिर भी मेरी आत्मा संतुष्ट लौट रही है। मेरे लेखक ने मुझपर एक मेहरबानी अवश्य की है। तत्सम शब्दों का भी इसने प्रयोग किया है तो एक सीमा तक ही। वह भी कहीं-कहीं । क्लिष्ट शब्द तो नहीं है प्रायः। कहीं वह अपनी सर्वप्रिय भाषा पर उतरता तो यह पुस्तक दूसरा 'पवनपुत्र' बन आती।............ पर नहीं पढ़ी हो तो इसकी पुस्तक पवनपुत्र तो पढ़ ही लीजिए। वह इसलिए कि तब पता लगेगा कि सचमुच इसकी संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्दावली क्या होती है।............ अगर अपनी भाषा को प्रायः आम आदमी की भाषा के स्तर पर उतारने में मेरे लेखक महोदय को उनकी लेखकीय गरिमा कहीं से गिरती नजर आ रही है तो मैं चाहूंगा एक ग्रंथ में यही सही। दूसरे में अपना पांडित्य प्रकट कर लीजिएगा।''[63]

उपर्युक्त परिच्छेद में लेखक की भाषा के सन्दर्भ में जो बातें कही गई है उनमें निम्नलिखित मुख्य है-

(1) भाषा के सन्दर्भ में लेखक तत्सम शब्दावली को ही प्राधान्य देता है।

(2) लेखक को अपनी संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्दावली युक्त भाषा पर गर्व है।

(3) इस दृष्टि से लेखक 'पवनपुत्र' की भाषा को अपना आदर्श बताते है।

(4) आम आदमी की भाषा के स्तर पर उतरने में लेखक को अपनी लेखकीय गरिमा गिरने का डर रहता है।

इस दृष्टि से देखे तो भाषा के सन्दर्भ में लेखक का आदर्श प्रेमचन्द न होकर जयशंकर प्रसाद है। कुछ लोग संस्कृतनिष्ठ भाषा को ही सर्वोपरि समझते है। डॉ. मिश्र भी इस आग्रह या पूर्वाग्रह से पीड़ित प्रतीत होते हैं।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन के समग्रावलोकन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों तक सहजतया पहुँच सकते है:-

(01) हमारे यहाँ उपन्यास का उद्भव 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से माना जाता है।

(02) 19 वीं शताब्दी का नवजागरण आंदोलन उपन्यास विधा को विकसित होने में न केवल अपना योगदान देता है, अपितु लेखकों को अनेक नए सामाजिक विषय भी उपलब्ध कराता है।

(03) उपन्यास गद्य की विधा है और संसार की सभी भाषाओं में गद्य के समुचित विकास के उपरान्त ही इस विधा का आविर्भाव हुआ है।

(04) उपन्यास में हमें मानव जीवन का गद्य उपलब्ध होता है।

(05) उपन्यास की भाषा उसके परिवेश से गहरा सम्बन्ध है।जैसा परिवेश होगा भाषा भी उसके अनुरूप होगी।

(06) चरित्र चित्रण में भाषा के योग को नकारा नहीं जा सकता। चरित्र निर्माण में भाषा के दो स्तर दृष्टिगोचर होते हैं। (अ) लेखकीय भाषा और (ब) पात्र की भाषा।

(07) उपन्यास में जहाँ जीवन दर्शन का आकलन होता है वहाँ उसकी भाषा का स्तर भिन्न प्रकार का पाया जाता है वहाँ भाषा गम्भीर, सूक्ष्म, सांकेतिक एवं प्रतीकात्मक स्वरूप धारण कर लेती है।

(08) परिवेश या औपन्यासिक रुपबन्ध के आधार पर कई बार एक लेखक में भाषा के एकाधिक स्तर पाए जाते हैं।

(09) लेखक का जीवन, उसकी शिक्षा-दीक्षा, उसके संस्कार उसकी विचारधारा इत्यादि का प्रभाव भी उसकी गद्यशैली पर पड़ता है।

(10) डॉ. भगवतीशरण मिश्र एक बहुश्रुत, बहुपठित एवं बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न लेखक है।

(11) प्रशासनिक सेवाओं के साथ-साथ उनका स्वतंत्र लेखन कार्य निरन्तर विकसित होता रहता है।

(12) डॉ. मिश्र का लेखन सतत विकसनशील अवस्था में रहा है।

(13) संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी तथा बंगला भाषा के विद्वान डॉ. मिश्र की बहुआयामी सृजनात्मक प्रतिभा ने आधुनिक हिन्दी साहित्य की विविध साहित्यिक विद्याओं को समृद्ध किया है।

(14) डॉ. मिश्र का चिन्तन अग्रगामी है। अग्रगामी चिन्तन सकारात्मक होता है। वह मानव मूल्यों को लेकर चलता है। उसमें किसी वाद या विचारधारा के प्रति जड़ता का भाव नहीं होता है।

******

सन्दर्भानुक्रम

1. दृष्टव्यः काव्य के रूप : बाबू गुलाबराय
2. हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभावः पृ0 26
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं.डॉ. नगेन्द्र
4. New English dictionary
5. The Novel and the the people : Ralph Fox : P 20
6. The writers at work : Artical - what is Novel and what is it good for : Irra Wallfort : Harpar and brothers P 08
7. दृष्टव्य : नवलकथा विशेषांक : सं. सुरेश जोशी : क्षितिज : लेख डॉ. उमाशंकर जोशी
8. रेणु की श्रेष्ठ कहानियाँ : राजेन्द्र यादव : पृ. 06.
9. मैला आँचल : फणीश्वरनाथ रेणु : पृ. 62-63.
10. लेखक की जमीन : गोविंद मिश्र
11. दृष्टव्य : समीक्षायण : डॉ. पारुकांत देसाई : पृ. 90
12. डॉ. पारुकांत देसाई साहब की व्यक्तिगत डायरी से
13. दृष्टव्य : समीक्षायण : डॉ. पारुकांत देसाई : पृ. 137
14. The Artís of the Novelist : H.P. Lathrope : P 200
15. हौलदार : शैलेश मटियानी : पृ. 80-81
16. कथासूर्य की नई यात्रा : हिमांशु श्रीवास्तव : पृ. 53
17. वही : पृ. 53
18. कथासूर्य की नई यात्रा : पृ. 54
19. दीक्षा : नरेन्द्र कोहली : पृ. 23
20. दीक्षा : पृ. 23-24
21. मुखसरोवर के हंस : शैलेश मटियानी : पृ. 03-04
22. मुर्दाघर : जगदम्बा प्रसाद दीक्षित : पृ. 179
23. प्रथम पुरुष : डॉ. भगवतीशरण मिश्र : पृ. 37-38
24. पीताम्बरा : डॉ. भगवतीशरण मिश्र : पृ. 78-80

25. कुछ विचार : प्रेमचन्द 'उपन्यास' शीर्षक लेख : पृ. 46
26. दृष्टव्य : डॉ. एस.एन. गणेशन
27. साँप और सीढ़ी : गुलशेर खान शानी : पृ. 37-38
28. आधा गाँव : डॉ. राही मासुम रजा : पृ. 359
29. वही : पृ. 352
30. रागदरबारी : श्रीलाल शुक्ल : पृ. 50
31. वही : पृ. 51
32. वही : पृ. 73-74
33. नदी नहीं मुड़ती : डॉ. भगवतीशरण मिश्र : पृ. 66-67
34. पहला सूरज : डॉ. भगवतीशरण मिश्र : पृ. 220
35. रेखा : भगवतीचरण वर्मा : पृ. 23
36. रुकोगी नहीं राधिका : उषा प्रियंवदा : पृ. 38
37. अँधेरे बन्द कमरे : मोहन राकेश : पृ. 345
38. जयवर्धन : जैनेन्द्र कुमार : पृ. 210
39. दृष्टव्य : समीक्षायण : डॉ. पारुकांत देसाई : पृ. 122
40. Memories and portraits : Steavensens
41. चिन्तनिका : डॉ. पारुकांत देसाई : पृ. 97
42. त्यागपत्र : जैनेन्द्र : पृ. 62
43. वही : पृ. 38
44. विवर्त : जैनेन्द्र : पृ. 228-229
45. वे दिन : निर्मल वर्मा : पृ. 62
46. वही : पृ. 211
47. एक और अहल्या : डॉ. भगवतीशरण मिश्र : पृ. 13
48. पीताम्बरा : डॉ. भगवतीशरण मिश्र : पृ. 229
49. वही : पृ. 494
50. भगवतीशरण मिश्र का उपन्यास साहित्य : शोध प्रबन्ध : डॉ. इला मिस्त्री : पृ. 45
51. रैन बसेरा : हिन्दी मासिक पत्रिका : डॉ. पारुकांत देसाई : अक्तूबर 1994

52. भागीरथी : जनवरी - फरवरी - 1994 : पृ. 08
53. सूखे सेमल के वृन्तों पर : डॉ. पारुकांत देसाई
54. भगवतीशरण मिश्र का उपन्यास साहित्य : डॉ. इला मिस्त्री : पृ. 48
55. सारिका : अप्रैल - 1889 : पृ. 63
56. हंस : जून - 1995 : पृ. 06
57. भगवतीशरण मिश्र का उपन्यास साहित्य : शोध-प्रबन्ध : म.स. विश्वविद्यालय बड़ौदा : डॉ. इला मिस्त्री : पृ. 54-56
58. दृष्टव्य : सारिका : अप्रैल 1989 : पृ. 63
59. वही : पृ. 63
60. भागीरथी : जनवरी-फरवरी 1994 : पृ. 20-21
61. वही : पृ. 07
62. भागीरथी : जनवरी-फरवरी 1994 : पृ. 09-10
63. देख कबीरा रोया : पृ. 391-392

******